तीर्थ-यात्रा

[कहानियाँ]

सुदर्शन

सरस्वती प्रेस, बनारस

१९४५ [मूल्य ३)

विषय-सूची

—:•:—

भूमिका

गल्प-रचना की विद्या का प्रारम्भ कब हुआ? किसने किया? किस तरह किया? किस स्थिति में किया? यह सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर संसार के इतिहास से मिलना असम्भव है। मगर गल्प के प्रारम्भ के विषय में विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है, कि विद्याध्ययन और मनोरंजन की यह मोहिनी सामग्री इतनी ही पुरानी है, जितनी यह दुनिया। Richard Burton साहब ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Masters of the English Novel में लिखा है कि "कहानी दुनिया की सबसे प्यारी वस्तु है, इसलिए आश्चर्य नहीं, कि इसका श्रीगणेश उस समय से हुआ हो जब आदमी ने घुटनों के बल खड़ा होना सीखा हो"। मगर मेरी राय में कहानी का प्रारंभ उस समय हुआ—जब दुनिया के पहले पुत्र ने पहली बार ज्ञान की आँख खोली, सूरज के नीचे किसी सुन्दर और रमणीय दृश्य को लोभ की दृष्टि से देखा, और उसे अपने मन-मन्दिर की चित्र-शाला में सुरक्षित किया। उस समय प्रकृति ने अभी उसके होठों से चुप की मोहर न तोड़ी थी, न उसे कोई ऐसी विधि मालूम थी, कि अपने भाव को दूसरों पर प्रकट कर सके। वह केवल चुप की आँख से देखता था, और चुप-चाप सोचता था। इसके बाद मिस्टर मार्विन (Mr. Marwin.) के वचनानुसार उसने अपने आस-पास की चीज़ों की नक़ल उतारनी शुरू की, और वृक्षों के तनों पर और चट्टानों के खुरदुरे पत्थरों पर चित्र बनाने लगा। जिस तरह वह उस समय आप सीधा-सादा था, उसी तरह यह चित्र सीधे-सादे थे। इन चित्रों में कला न थी, कल्पना न थी, आज-कल का सौंदर्य न था। साँप और न्योले की लड़ाई, शेर और हाथियों का शिकार, देवी-देवताओं की पूजा के सिवाय उनमें और कुछ भी न था। साधारण आदमियों के लिए यह प्रारम्भ अत्यन्त तुच्छ और निःसार प्रारम्भ है, मगर यही तुच्छ और निःसार प्रारम्भ है, जिसने आज अपना विकास करके मानरो बालज़ाक (Monro Balzac), गी द मपासाँ (Guy De Maupasant), सेन काई विज़ (Sein Ki Wichz), अनातोल फ़्राँस (Anatole France), ल्यू टालस्टाय (Leo Tolstoy), जैक लंडन (Jack London), अपटन

सिनक्लेयर (Upton Sinclair), और रवीन्द्रनाथ ठकुर का नाम साहित्य-संसार में अमर कर दिया है। यह वही परमाणु है, जो आज सूरज बनकर चमक रहा है। यह वही छोटा-सा बीज है जो आज एक विशाल-काय और घने वृक्ष का मनोहर रूप धारण कर चुका है, और दोपहर की हत्यारी गरमी के मारे हुए मुसाफ़िरों के लिए सुख, विश्राम और जीवन का जीता-जागता संदेसा बनकर खड़ा है।

मानव-प्रकृति परिवर्तन-प्रिय है। आदमी एक ही चीज़ को एक ही रंग-रूप में देख-देखकर ऊब जाता है। कुछ देर के बाद वह वृक्षों और पत्थरों पर युद्ध, शिकार, पूजा के चित्र देख-देखकर तंग आ गया, और अपने मनोरंजन के लिए किसी और चीज़ की खोज करने लगा। उधर इस बीच में उसकी वाक्‌शक्ति का विकास हो गया और उसने शूरवीरों, भयंकर जीव-जन्तुओं, और प्रकृति की अमर देवियों के गीत बनाने शुरू कर दिये कहानी पहले वृक्षों और चट्टानों पर चुप-चाप पड़ी सोती थी, अब गीतों के हिंडोले में झूलने लगी, बढ़ने लगी, हाथ-पाँव निकालने लगी।

बाल्यावस्था की आयु समाप्त करके यह होनहार बच्चा गीतों के हिंडोले से उतरा, और अपने पाँव पर चलने लगा। कभी गिरता था, कभी ठोकरें खाता था, कभी उसका कपड़ा काँटों की झाड़ियों में उलझता था। मगर यह बहादुर मनचला इन रुकावटों की ज़रा परवा न करता था, और बराबर आगे बढ़ता चला जाता था। इस बाल्यात्रा में उसे सबसे पहले एक बाग़ दिखाई दिया। बच्चा था, ललचा गया, और कुछ दिन यहीं टिका रहा। फल फूल खाता था, झरनों का पानी पीता था, तोता मैना, और हिरणों से बातचीत करता था, और नदी के किंनारे बैठा चैन की बाँसुरी बजाता था। इसके बाद एक जादू के शहर में जा फँसा। वहाँ से छूटा तो जोबन और सुन्दरता की कुंजगलियों का चसका पड़ गया। कुछ ज़माना इन आहों और गुनाहों में कटा और इसके बाद ज्ञान-चक्षु खुल गये। ख़्याल आया, मैं कितना अधम हूँ, जोबन की लालसा में घर-बार सब कुछ बिसार बैठा, मुझे दुनिया क्या कहेगी? यह ख़्याल आना था, कि महात्माजी वापिस लौटे, और चुपके से घर का द्वार खोलकर गार्हस्थ्य-जीवन में प्रविष्ट हो गये। आज उसके हृदय-सागर में विषय और वासना की प्राण-घातक लहरें नहीं उठतीं, न चिड़ियों, कौवों को देखकर बाल काल की अधीर भावनायें सिर उठाती हैं। अब वह अपना मंतव्य और कर्तव्य समझनेवाला गृहस्थी है, जिसकी सारी मनोवृत्तियाँ घर के लिए हैं।

ह घर से बाहर भी जाता है, हँसता-खेलता भी है, गाता-बजाता भी है, कभी-
भी पुराने पापी मित्रों की चाण्डाल-चौकड़ी में भी चला जाता है, परन्तु उसके
न का तार घर ही में बजता है ।

या सीधे-सादे शब्दों में हम यों कहेंगे, कहानी का पहला युग वह था, जब
ात को बच्चे घर के आँगन में खेलते थे, या बुड्ढे आग तापते थे, और जंगली
जीव-जन्तुओं की कहानियाँ कहते थे । मालूम होता है, पंच-तन्त्र और ईसप की
कहानियाँ उसी आदिकाल की बची-खुची यादगारें हैं । इनमें लालित्य हो या
न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियों से भरी पड़ी हैं । इसके बाद दूसरा युग
जादू का युग था । लोग अद्भुत और चक्करदार कहानियाँ माँगने लगे, जैसे
अलिफ़ लैला, चहार दरवेश, तलिस्म-होशरुबा की कहानियाँ हैं । इनमें मनोरंजन
और माधुरी है, परन्तु दुनिया और दुनिया के नियमों से कोसों परे हैं । वे
कहानियाँ हमारे लोक की नहीं, किसी और लोक की हैं, जिसे हमने न देखा है,
न कभी देखने की सम्भावना है । वहाँ कभी कबूतर देखते देखते नौजवान राजकुमार
बन जाते हैं, कभी क्षण भर में विशाल भवन खड़े हो जाते हैं । कभी कटे हुए
सिर हँसते हैं, कभी मृतक शरीर घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करते हैं । ये कहानियाँ
पाठक को चकित कर देती हैं । वह डर जाता है । वह तन्मय हो जाता है । वह
खाने-पीने की सुध भूल जाता है । परन्तु कहानी की समाप्ति पर वह स्वयं अनुभव
करता है कि उसने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है । फिर तीसरा युग आरम्भ
हुआ, और प्रेम और सौन्दर्य की कहानियाँ शुरू हुईं । उनमें चन्द्रमा की नृत्यमयी
चाँदनी, फूलों की मद-भरी गंध, और श्यामा का रोमांचकारी संगीत है । उनमें
काव्य है, उनमें कला है, उनमें कल्पना है, और सबसे बढ़कर यह कि उनमें मानव-
हृदय और मानव-भाव की व्याख्या है । परन्तु उनमें एक बुराई है, दुनिया उनसे
ऊपर नहीं उठती, नीचे गिरती है । यहाँ यूरोप और भारत में मत-भेद है । यूरोप
कहता है, एक घटना सुन्दरता से वर्णन कर दो, पाठक ऊँचा उठता है, या उसका
आचार भ्रष्ट होता है, इससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं । भारत कहता है, वह रचना
रचना ही नहीं, जो संसार को ऊँचा न उठाये और वह कला-कला नहीं, जिससे
मानवता की उन्नति न हो । परन्तु इस विषय में दोनों सहमत हैं कि कहानी में
खुला उपदेश न हो । कहानी से उपदेश मिल जाये, यह दूसरी बात है, परन्तु

सिनक्लेयर (Upton Sinclair), और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम साहित्य-संसार में अमर कर दिया है। यह वही परमाणु है, जो आज सूरज बनकर चमक रहा है। यह वही छोटा-सा बीज है जो आज एक विशाल-काय और घने वृक्ष का मनोहर रूप धारण कर चुका है, और दोपहर की हत्यारी गरमी के मारे हुए मुसाफ़िरों के लिए सुख, विश्राम और जीवन का जीता-जागता संदेसा बनकर खड़ा है।

मानव-प्रकृति परिवर्तन-प्रिय है। आदमी एक ही चीज़ को एक ही रंग-रूप में देख-देखकर ऊब जाता है। कुछ देर के बाद वह वृक्षों और पत्थरों पर युद्ध, शिकार, पूजा के चित्र देख-देखकर तंग आ गया, और अपने मनोरंजन के लिए किसी और चीज़ की खोज करने लगा। उधर इस बीच में उसकी वाक्‌शक्ति का विकास हो गया और उसने शूरवीरों, भयंकर जीव-जन्तुओं, और प्रकृति की अमर देवियों के गीत बनाने शुरू कर दिये कहानी पहले वृक्षों और चट्टानों पर चुप-चाप पड़ी सोती थी, अब गीतों के हिंडोले में झूलने लगी, बढ़ने लगी, हाथ-पाँव निकालने लगी।

बाल्यावस्था की आयु समाप्त करके यह होनहार बच्चा गीतों के हिंडोले से उतरा, और अपने पाँव पर चलने लगा। कभी गिरता था, कभी ठोकरें खाता था, कभी उसका कपड़ा काँटों की झाड़ियों में उलझता था। मगर यह बहादुर मनचला इन रुकावटों की ज़रा परवा न करता था, और बराबर आगे बढ़ता चला जाता था। इस बाल्यात्रा में उसे सबसे पहले एक बाग़ दिखाई दिया। बच्चा था, ललचा गया, और कुछ दिन यहीं टिका रहा। फल फूल खाता था, झरनों का पानी पीता था, तोता मैना, और हिरणों से बातचीत करता था, और नदी के किनारे बैठा चैन की बाँसुरी बजाता था। इसके बाद एक जादू के शहर में जा फँसा। वहाँ से छूटा तो जोबन और सुन्दरता की कुंजगलियों का चसका पड़ गया। कुछ ज़माना इन आहों और गुनाहों में कटा और इसके बाद ज्ञान-चक्षु खुल गये। ख़्याल आया, मैं कितना अधम हूँ, जोबन की लालसा में घर-बार सब कुछ बिसार बैठा, मुझे दुनिया क्या कहेगी? यह ख़्याल आना था, कि महात्माजी वापिस लौटे, और चुपके से घर का द्वार खोलकर गार्हस्थ्य-जीवन में प्रविष्ट हो गये। आज उसके हृदय-सागर में विषय और वासना की प्राण-घातक लहरें नहीं उठतीं, न चिड़ियों, कौवों को देखकर बाल काल की अधीर भावनायें सिर उठाती हैं। अब वह अपना मंतव्य और कर्तव्य समझनेवाला गृहस्थी है, जिसकी सारी मनोवृत्तियाँ घर के लिए हैं।

वह घर से बाहर भी जाता है, हँसता-खेलता भी है, गाता-बजाता भी है, कभी-कभी पुराने पापी मित्रों की चाण्डाल-चौकड़ी में भी चला जाता है, परन्तु उसके मन का तार घर ही में बजता है।

या सीधे-सादे शब्दों में हम यों कहेंगे, कहानी का पहला युग वह था, जब रात को बच्चे घर के आँगन में खेलते थे, या बुड्ढे आग तापते थे, और जंगली जीव-जन्तुओं की कहानियाँ कहते थे। मालूम होता है, पंच-तन्त्र और ईसप की कहानियाँ उसी आदिकाल की बची-खुची यादगारें हैं। इनमें लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियों से भरी पड़ी हैं। इसके बाद दूसरा युग जादू का युग था। लोग अद्भुत और चक्करदार कहानियाँ माँगने लगे, जैसे अलिफ़ लैला, चहार दरवेश, तलिस्म-होशरुबा की कहानियाँ हैं। इनमें मनोरंजन और माधुरी है, परन्तु दुनिया और दुनिया के नियमों से कोसों परे हैं। वे कहानियाँ हमारे लोक की नहीं, किसी और लोक की हैं, जिसे हमने न देखा है, न कभी देखने की सम्भावना है। वहाँ कभी कबूतर देखते देखते नौजवान राजकुमार बन जाते हैं, कभी क्षण भर में विशाल भवन खड़े हो जाते हैं। कभी कटे हुए सिर हँसते हैं, कभी मृतक शरीर घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करते हैं। ये कहानियाँ पाठक को चकित कर देती हैं। वह डर जाता है। वह तन्मय हो जाता है। वह खाने-पीने की सुध भूल जाता है। परन्तु कहानी की समाप्ति पर वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ, और प्रेम और सौन्दर्य की कहानियाँ शुरू हुईं। उनमें चन्द्रमा की नृत्यमयी चाँदनी, फूलों की मद-भरी गंध, और श्यामा का रोमांचकारी संगीत है। उनमें काव्य है, उनमें कला है, उनमें कल्पना है, और सबसे बढ़कर यह कि उनमें मानव हृदय और मानव-भाव की व्याख्या है। परन्तु उनमें एक बुराई है, दुनिया उनसे ऊपर नहीं उठती, नीचे गिरती है। यहाँ यूरोप और भारत में मत-भेद है। कहता है, एक घटना सुन्दरता से वर्णन कर दो, पाठक ऊँचा उठता है, या उसका आचार भ्रष्ट होता है, इससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं। भारत कहता है, वह रचना ही नहीं, जो संसार को ऊँचा न उठाये और वह कला-कला नहीं, जिससे मानवता की उन्नति न हो। परन्तु इस विषय में दोनों सहमत हैं कि कहानी खुला उपदेश न हो। कहानी से उपदेश मिल जाये, यह दूसरी बात है,

उसमें प्रकट-रूप से उपदेश न दिया जाये। प्रकट-रूप से उपदेश आया और कहानी कला-हीन हुई। वह उपदेश है, वह व्याख्यान है, परन्तु कहानी नहीं। अब कहानी का जो नवीन युग शुरू हुआ है, वह घर के साधारण जीवन-वर्णन की कहानियों का युग है। वर्तमान समय का सर्व-श्रेष्ठ गल्प-लेखक वह है, जो गार्हस्थ्य-जीवन का चित्र खींचकर रख दे। माँ-पुत्र बैठते हैं, तो क्या बातें करते हैं? पति-पत्नी में मनमुटाव हो जाता है, तो उनके दिल में क्या विचार आते हैं? वह किस तरह सुलह-सफ़ाई करना चाहते हैं, मगर लज्जा उनकी जीभ पकड़ लेती है। वृद्धावस्था में बीते हुए जोबन-काल की स्मृति किस तरह आदमी के दिल को उदास कर देती है, उसकी आँखें किस तरह सजल हो जाती हैं? माता-और पिता की, बेटी और बेटे की, बहन और भाई की मुहब्बत में कितना अंतर है, नव-युवती और बुड्ढी स्त्री के विचारों में कैसा भेद होता है? ये सब ऐसी बातें हैं, जो वर्तमान युग के गल्पलेखक के लिए अत्युत्तम विषय हैं। बाज़ार की सैर से हृदय-कमल खिल जाता है, परन्तु जो आध्यात्मिक आनन्द घर के आँगन में है, वह बाहर कहाँ? जंगल का स्वाधीन पंछी फूल की टहनियों पर बैठकर कैसा चहचहाता है? उसे सुनील विस्तृत आकाश में उड़ते देखकर हमारे दिल में भावों की बाढ़ आ जाती है। परन्तु उसके मन की सच्ची और स्वाभाविक प्रसन्नता देखनी हो, तो उस समय देखो, जब वह अपने परों को समेट कर और जादूभरी आँखों को आधा बन्द करके आधा खोलके अपने घोंसले में बैठा हो, और उसे इस बात की कोई चिन्ता न हो, कि बाहर क्या हो रहा है? परन्तु इसके लिए दिल की आँख, और आँख के दिल की ज़रूरत है। सर्व-साधारण की दृष्टि है, जिसमें कोई आकर्षण, कोई गौरव नहीं। जैसे रागविद्या से अनभिज्ञ आदमी को पक्के राग में मज़ा नहीं आता।

इसलिए वर्तमान युग का कहानी-लेखक बाहर का कहानी-लेखक नहीं, अन्दर का कहानी-लेखक है। दुनिया को देखनेवाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घर को देखनेवालों की आवश्यकता है। बाहर क्या हो रहा है? किस तरह हो रहा है? यह हर कोई देखता है। परन्तु घर और दिल के अन्दर क्या हो रहा है? वहाँ प्रवेश करना, उन्हें देखना, और फिर जो कुछ वहाँ दिखाई दे, उसे दुनिया के सम्मुख रखना आसान नहीं। और यही समस्या है, जिसे हल करने के लिए बीसवीं सदी का कहानी-लेखक साहित्य-क्षेत्र में उतरा है।

यह कहानी के विकास और विस्तार का संक्षिप्त इतिहास है। परन्तु गल्प रचना की विद्या कब शुरू हुई, और इसे किसने शुरू किया, यह कहना कठिन है। भिन्न भिन्न कहानियाँ पढ़ने और कई साल तक सोच-विचार करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि ज़मीन की घास के समान गल्प-रचना की विद्या भी प्रत्येक देश में आपसे आप उत्पन्न हुई है, मगर अगुआ होने का सेहरा भारतवर्ष के सिर है, क्योंकि सभ्यता ने सबसे पहले इसी पुण्यभूमि में आँख खोली। अन्धकार और अविद्या के उस ज़माने में जब कि सकल संसार अशिक्षित था, प्राचीन आर्य्यों की इस प्राचीन भूमि में ज्ञान की गंगा बहती थीं, और जब सारी दुनिया सभ्यता से शून्य थी, भारत अभ्युदय और उन्नति की कठिन यात्रा समाप्त कर चुका था। यहाँ तक कि कहानियों के मामले में भी हम वहाँ पहुँच चुके थे, जो आज रूस और फ्रांस का आदर्श है। परन्तु किस तरह? मैं इसे सिद्ध करूँगा।

साहित्य-कला की दृष्टि से इस समय संसार में फ्रांस और रूस सबसे आगे हैं, और जहाँ तक उपन्यास, कहानी और नाटक का सम्बन्ध है, रूस, फ्रांस से भी आगे निकल गया है। वहाँ आज-कल छोटी छोटी कहानियों की एक नई प्रथा चली है। उनमें एक इशारा, एक शिक्षा, एक कसक होती है। आदमी पढ़ता है और समझता है, और उछल पड़ता है। शब्द थोड़े होते हैं, परन्तु लेखक अपना अभीष्ट कुछ इस तरह कह जाता है, कि पढ़नेवाले के दिल में एक चिनगारी रोशन हो जाती है। उदाहरणार्थ अग्रलिखित कहानी देखिए, जो रूस के एक सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक ने लिखी है:—

देवताओं का फ़ैसला

(१)

प्रातःकाल महाराज उठा, और उसने आज्ञा दी, कि शाही दरवाज़े के भिक्षुकों को सम्मान से हमारे सामने पेश किया जाये।

उस रात उसने एक अनुपम सपना देखा था, और उसकी याद अभी तक उसकी आँखों में चमक रही थी। इसलिए उसने उन भिक्षुकों को कृपादृष्टि से देखा, और उनमें से हर-एक को सोने की एक-एक सौ मोहर दान दी। सारे शहर में जय-जयकार होने लगा।

(२)

उसी शहर में एक ग़रीब किसान रहता था, जिसे दिन-रात के परिश्रम के बाद केवल खाने-पीने को ही प्राप्त होता था।

दोपहर के समय किसान ने अपनी स्त्री से कहा—"मेरा भाई मर गया है। अब उसके अनाथ बच्चे को भी हमें पालना होगा।"

"मगर" किसान की स्त्री ने कहा—"हम ग़रीब हैं। हमें तो दोनों समय खाना भी मुश्किल से मिलता है।"

किसान ने उत्तर दिया—"कोई चिन्ता नहीं। हम थोड़ा-थोड़ा करके तीनों खा लेंगे।"

(३)

रात को जब आकाश पर देवताओं की सभा हुई, और दिन का हिसाब-किताब पेश हुआ, तो उन्होंने निर्णय किया कि "किसान के दान के सामने महाराजा के दान का कुछ भी महत्त्व नहीं है।"

इस कहानी को यूरोप ने बेहद पसन्द किया है। उच्च कोटि की पत्रिकाओं ने लिखा है, बस यह कला की पराकाष्ठा है, अब इससे परे कोई क्या जायेगा? और वास्तव में यह कहानी सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न है। इसे पढ़कर कला भी सिर मारने लग जाती है। मगर यह चीज़ दुनिया में पहली बार प्रकट हुई है, यह ग़लत है। महाभारत में एक कहानी आती है:—

सोने का न्योला

(१)

अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर जब महाराज युधिष्ठिर ने अपने ख़ज़ाने खाली कर दिये, और ब्राह्मणों को बिदा का भोजन कराया, तो एक न्योला आकर रसोई में लेट गया। उसका आधा शरीर सोने का था, आधा मांस का था।

थोड़ी देर बाद वह निराश होकर उठा, और क्रोध से बोला—"यह यज्ञ भी ठीक न हुआ।"

ब्राह्मणों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—"बात क्या है?"

(२)

न्योला बोला—"कई वर्ष बीते, भारत के एक प्रान्त में अकाल पड़ा, और लोग भूखों मरने लगे।"

एक ब्राह्मण को बड़े परिश्रम से कुछ जौ मिले और उसने पीसकर सत्तू बनाये। ब्राह्मण, उसकी स्त्री, उसका पुत्र, और पुत्र-वधू सब ख़ुश थे, क्योंकि उनको यह अन्न कई दिन भूखा रहने के बाद मिला था। वह खाना खाने बैठे थे, कि इतने में एक अतिथि ने द्वार पर आकर आवाज़ दी और कहा—"मैं भूखा हूँ।" ब्राह्मणी ने उसे अपना भाग दे दिया, परन्तु अतिथि का पेट न भरा।

इसके बाद ब्राह्मण ने उसे अपने भाग के सत्तू दे दिये, परन्तु अतिथि अब भी भूखा था।

इसपर ब्राह्मण के पुत्र, और पुत्र-वधू ने अपने-अपने सत्तू भी दे दिये, और अतिथि उनको आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

दूसरे दिन वहाँ चार लाशें पड़ी थीं।

(३)

सत्तुओं की गंध पाकर मैं वहाँ चला गया। कुछ सत्तू रसोई में बिखरे हुए थे। मैं वहाँ लेट गया, और यह देखकर मुझे कैसा अचरज हुआ, कि मेरी देह में जहाँ-जहाँ सत्तू लगे, वह सोने की बन गई। अब मैं हर यज्ञ में जाता हूँ और रसोई-घर में लेटता हूँ, कि शायद मेरी बाक़ी देह भी सोने की बन जाय। परन्तु मेरी मनोकामना पूरी नहीं होती, और मैं समझ जाता हूँ कि यह यज्ञ भी ठीक नहीं हुआ। और मैं यही समझता रहूँगा, जब तक कि मेरा सारा शरीर सोने का न हो जाये।"

पाठक देखें, वही भाव है, वही लिखने का ढंग, वही इशारा, वही छिपी हुई शिक्षा। बल्कि महाभारत की कहानी कला की दृष्टि से अधिक सुरोचक है। और यह आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले की बात है। गोया जहाँ रूस आज पहुँचा है, और जिस-पर उसे बधाइयाँ दी जा रही हैं, वहाँ हम पाँच हज़ार साल पहले पहुँच चुके हैं। और इतना ही नहीं, उपनिषदों की कहानियाँ इससे भी उच्च कोटि की हैं, और यह सारी दुनिया जानती और मानती है, कि उपनिषद् महाभारत से बहुत पुराने हैं। परन्तु

भारतवर्ष का दुर्भाग्य देखिए, आज हम ऐसी कला-पूर्ण कहानियों को समझ भी नहीं सकते, न हमें उनमें कोई काव्य, कोई कला, कोई कल्पना दिखाई देती है। सम्भव है, फ्रांस और रूस के मोती देखकर हमें भी अपने फेंके हुए जवाहरात का ध्यान आ जाये।

'तीर्थ यात्रा' में मैंने इस प्रकार की एक गल्प 'संसार की सबसे बड़ी कहानी' दी है। देखें उसे हिन्दी-पाठक पसन्द करते हैं या नहीं। अगर उन्होंने इस कहानी को पसन्द किया, तो मेरा विचार है, इसी ढंग की कहानियों का संग्रह अलग प्रकाशित करूँ।

रामकुटिया
बुकडिपो, लाहौर

सुदर्शन

तीर्थ-यात्रा

आशीर्वाद

(१)

लाजवन्ती के यहाँ कई पुत्र पैदा हुए; मगर सब-के-सब बचपन ही में मर गये। आखिरी पुत्र हेमराज उसके जीवन का सहारा था। उसका मुँह देखकर वह पहले बच्चों की मौत का ग़म भूल जाती थी। यद्यपि हेमराज का रङ्ग-रूप साधारण दिहाती बालकों का-सा ही था, मगर लाजवन्ती उसे सबसे सुन्दर समझती थी। मातृ-वात्सल्य ने आँखों को धोखे में डाल दिया था। लाजवन्ती को उसकी इतनी चिन्ता थी कि दिन-रात उसे छाती से लगाये फिरती थी; मानों वह कोई दीपक हो, जिसे बुझाने के लिए हवा के तेज़ झोंके बार-बार आक्रमण कर रहे हों। वह उसे छिपा-छिपाकर रखती थी, कहीं उसे किसी की नज़र न लग जाय। गाँव के लड़के खेतों में खेलते फिरते हैं, मगर लाजवन्ती हेमराज को घर से बाहर न निकलने देती थी। और कभी निकल भी जाता, तो घबराकर ढूँढ़ने लग जाती थी। गाँव की स्त्रियाँ कहतीं—"हमारे भी तो लड़के हैं, तू ज़रा सी बात में यों पागल क्यों हो जाती है ?" लाजवन्ती यह सुनती, तो उसकी आँखों में आँसू लहराने लगते। भर्राये हुए स्वर से उत्तर देती—"क्या कहूँ ? मेरा जी डर जाता है !"

इस समय उसे अपने मरे हुए पुत्र याद आ जाते थे।

मगर इतना सावधान रहने पर भी हेमराज बुरी नज़र से न बच सका। प्रातःकाल था; लाजवन्ती दूध दुह रही थी। इतने में हेमराज जागा, और मुँह फुलाकर बोला—"मा !"

आवाज़ में उदासी थी, लाजवन्ती के हाथ से बर्तन गिर गया। दौड़ती हुई हेमराज के पास पहुँची, और प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरकर बोली—"क्यों हेम ! क्या है बेटा ? घबराया हुआ क्यों है तू ?"

है; हानिकारक भी हो सकता है। मेरी सम्मति में हेम के पिता को बुलवा लो।"

लाजवन्ती सहम गई। रेत के स्थलों को मीठे जल की नदी समझकर जब हरिण पास पहुँचकर देखता है कि नदी अभी तक उतनी ही दूर है, तो जो दशा उसके मन की होती है, वही दशा इस समय लाजवन्ती की हुई। उसे आशा नहीं, निश्चय हो गया था कि हेम एक-आध दिन में ठीक हो जाएगा। उसी तरह खेलता फिरेगा, उसी तरह नाचता फिरेगा। माँ देखेगी खुश होगी। लोग बधाइयाँ देंगे। मगर वैद्य की बात सुनकर उसका दिल बैठ गया। उसका पति रामलाल सचदेव मुलतान में नौकर था। उसने उसे पत्र लिखा, वह तीसरे दिन पहुँच गया। इलाज दुगनी सावधानी से होने लगा। यहाँ तक कि दस दिन और भी बीत गये। अब इक्कीसवाँ दिन सिर पर था। लाजवन्ती और रामलाल दोनों घबरा गये। हेम की देह अभी तक आग की तरह तप रही थी। सोचने लगे, क्या बुख़ार एकाएक उतरेगा?

वैद्य ने आकर नाड़ी देखी, तो घबराकर बोले—"आज की रात बड़ी भयानक है। सावधान रहना, बुख़ार एकाएक उतरेगा।"

(३)

लाजवन्ती और रामलाल, दोनों के प्राण सूख गये। वैद्य के शब्द किसी आनेवाले भय की पूर्व-सूचना थे। रामलाल दवायें सँभालकर बेटे के सिरहाने बैठ गये। परन्तु लाजवन्ती के हृदय को कल न थी। उसने संध्या-समय थाल में घी के दीपक जलाये और मन्दिर की ओर चली। इस समय उसे आशा अपनी पूरी जीवन-सामग्री के साथ सामने नाच करती हुई दिखाई दी। लाजवन्ती अनन्यभाव से मन्दिर में पहुँची, और देवी के सामने गिरकर देर तक रोती रही। जब थककर उसने सिर उठाया, तो उसका मुख-मंडल शांत था, जैसे तूफ़ान के बाद समुद्र शांत हो जाता है। उसको ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई दिव्य शक्ति उसके कान में कह रही है कि तूने आँसू बहाकर देवी के

पाषाण-हृदय को पिघला दिया है। परन्तु उसने इतने ही पर संतोष न किया; मातृ-स्नेह ने भय को चरम-सीमा पर पहुँचा दिया था। लाजवन्ती ने देवी की आरती उतारी, फूल चढ़ाये, मन्दिर की परिक्रमा की और प्रेम के बोझ से काँपते हुए स्वर से मानता मानी कि, "देवी माता! मेरा हेम बच जाय, तो मैं तीर्थ-यात्रा करूँगी।"

यह मानता मानने के बाद लाजवन्ती को ऐसा जान पड़ा, जैसे उसके दिल पर से किसी ने कोई बोझ हटा लिया है, जैसे उसका संकट टल गया है, जैसे उसने देवताओं को खुश कर लिया है। उसे निश्चय हो गया कि अब हेम को कोई भय नहीं है। लौटी, तो उसके पाँव भूमि पर न पड़ते थे। उसके हृदय-समुद्र में आनंद की तरंगे उठ रही थीं। उड़ती हुई घर पहुँची, तो उसके पति ने कहा—"लो बधाई हो, तुम्हारा परिश्रम सफल होने को है; बुख़ार धीरे-धीरे उतर रहा है।"

लाजवन्ती के मुख पर प्रसन्नता थी और नेत्रों में आशा की झलक। झूमती हुई बोली—"अब हेम को कोई डर नहीं है। मैं तीर्थ-यात्रा की मानता मान आई हूँ।"

रामलाल ने तीर्थ-यात्रा के ख़र्च का अनुमान किया, तो हृदय बैठ गया; परन्तु पुत्र-स्नेह ने इस चिंता को देर तक न ठहरने दिया। उसने बादलों से निकलते हुए चन्द्रमा के समान मुस्कराकर उत्तर दिया—"अच्छा किया, रुपये का क्या है, हाथ की-मैल है, आता है, चला जाता है। परमेशर ने एक लाल दिया है, वह जीता रहे। यही हमारी दौलत है।

लाजवन्ती ने स्वामी को सुला दिया और आप रात-भर जागती रही। उसके हृदय पर ब्रह्मानंद की मस्ती छा रही थी। प्रभात हुआ, तो हेम का बुख़ार उतर गया था। लाजवन्ती के मुख-मंडल से प्रसन्नता टपक रही थी, जैसे संध्या के समय गौओं के स्तनों से दूध की बूँदें टपकने लगती हैं।

वैद्यजी ने आकर देखा, तो उनका मुख-मंडल भी चमक उठा।

अभिमान से सिर उठाकर बोले—"अब कोई चिंता नहीं। तुम्हारा बच्चा बच गया।"

लाजवन्ती ने हेम की देह पर हाथ फेरते हुए कहा—"क्या से क्या हो गया है।"

वैद्य ने लाजवन्ती की ओर देखा और रामलाल से बोले—"यह सब इसी के परिश्रम का फल है।"

लाजवन्ती ने उत्तर दिया—"देवी माता की कृपा है, अथवा आपकी दवा के प्रभाव का फल है। मैंने क्या किया है, जो मेरे परिश्रम का फल है?"

"मैं तुम्हें दूसरी सावित्री समझता हूँ। उसने मरे हुए पति को जिलाया था, तुमने पुत्र को मृत्यु के मुँह से निकाला है। तुम यदि दिन-रात एक न कर देतीं, तो हेम का बचना सर्वथा असंभव था। यह सब तुम्हारी मेहनतों का फल है। भगवान प्रसन्न हो गया। बच्चा बचा नहीं, दूसरी बार पैदा हुआ है।"

रामलाल के होठों पर मुस्कराहट थी, आँखों में चमक। इसके सातवें दिन वह अपनी नौकरी पर चले गये, और कहते गये कि तीर्थ-यात्रा की तैयारी करो।

(४)

तीन महीने बीत गये; लाजवन्ती तीर्थ-यात्रा के लिए तैयार हुई। अब उसके मुख पर फिर वही आभा थी; आँखों में फिर वही चमक, दिल में फिर वही .खुशी। हेम आँगन में इस प्रकार चहकता फिरता था, जैसे फूलों पर बुलबुल चहकता है। लाजवन्ती उसे देखती, तो फूली न समाती थी। तीर्थ-यात्रा से पहले की रात को उसके आँगन में सारा गाँव इकट्ठा हो रहा था। झाँझें और करतालें बज रही थीं। ढोलक की थाप गूँज रही थी। स्त्रियाँ गाती थीं, बजाती थीं, शोर मचाती थीं। दूसरी तरफ़ कहीं पूरियाँ बन रही थीं, कहीं हलुआ। उनकी सुगंध से दिमाग़ तर हुए जाते थे। लाजवन्ती इधर-से-उधर औ

उधर-से-इधर आ-जा रही थी, मानों उसके यहाँ व्याह हो। एक ओर निचिंते साधु सुलफ़े के दम लगाकर गाँव की हवा को शुद्ध कर रहे थे। उनकी ओर गाँव के लोग इस तरह देखते थे, जैसे किसान तहसीलदार की ओर देखते हैं। आँखों में श्रद्धा-भाव के स्थान में भय और आतंक की मात्रा कहीं अधिक थी। लाजवन्ती से कोई मैदा माँगता था, कोई घी। कोई कहता था, हलवाई खाँड़ के लिए चिल्ला रहा है। कोई पूछता था, अमचूर का बरतन कहाँ है। कोई और समय होता, तो लाजवन्ती घबरा जाती। पर इस समय उसके मुख पर ज़रा घबराहट न थी। सोचती थी, कैसा सौभाग्य है, जो यह दिन मिला। आज घबराहट कैसी?

परन्तु सारा गाँव प्रसन्न हो, यह बात न थी। वहीं स्त्रियों में बैठी हुई एक बूढ़ी स्त्री असीम दुःख में डूबी हुई थी। यह लाजवन्ती की पड़ोसिन हरो थी। अत्यंत दुःख के कारण उसके कंठ से आवाज़ न निकलती थी। नगर होता, तो वह इस उत्सव में कभी सम्मिलित न होती। मगर गाँव की बात थी; न आती, तो उँगलियाँ उठने लगतीं। आनंदमय हास-परिहास के बीच में उसका मस्तिष्क दुःख और शोक के कारण ऐसे खौल रहा था, जैसे ठंडे समुद्र में गरम जल का स्रोत उबल रहा हो। वह स्रोत बाक़ी समुद्र से कितना परे, कितना अलग होता है?

इसी तरह रात के चार बज गये; लोग खा-पीकर आराम करने लगे। जो बच रहा, वह ग़रीबों को बाँट दिया गया। लाजवन्ती ने लोगों को बिदा किया और चलने की तैयारी में लगी। उसने एक टीन के बक्स में ज़रूरी कपड़े रक्खे, एक बिस्तर तैयार किया, कंठ में लाल रंग की सूती माला पहनी, माथे पर चंदन का लेप किया। गऊ पड़ोसिन को सौंपी, और उससे बार-बार कहा—"इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना। जा रही हूँ, मगर मेरा मन अपनी गऊ में रहेगा।" सहसा किसी की सिसकी भरने की आवाज़ सुनाई दी। लाजवन्ती के कान खड़े हो गये। उसने चारों तरफ़ देखा, मगर कोई दिखाई न दिया।

इस समय सारा गाँव सुख-स्वप्न में अचेत पड़ा था। यह सिसकी भरनेवाला कौन है? यह सोचकर लाजवन्ती हैरान रह गई। वह आँगन में निकल आई, और ध्यान से सुनने लगी। सिसकी की आवाज़ फिर सुनाई दी।

लाजवन्ती छत पर चढ़ गई, और पड़ोसिन के आँगन में झुककर ज़ोर से बोली—"माँ हरो!"

कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर एक चारपाई पर से उत्तर मिला—"कौन है, लाजवन्ती?"

आवाज़ में आँसू मिले हुए थे।

लाजवन्ती जल्दी से नीचे उतर गई, और हरो के पास पहुँचकर बोली—"माँ, क्या बात है? तू रो क्यों रही है?"

हरो सचमुच रो रही थी। परन्तु अपना दुःख लाजवन्ती के सामने कहते हुए उसके नारी-दर्प को बट्टा लगता था, इसलिए अपनी वास्तविक अवस्था को छिपाती हुई बोली—"कुछ बात नहीं।"

"तो रो क्यों रही हो?"

हरो के रुके हुए आँसुओं का बाँध टूट गया; उसका दुःखी हृदय सहानुभूति की एक चोट को भी सहन न कर सका। वह सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगी।

लाजवन्ती ने फिर पूछा—"माँ! बात क्या है, जो तू इस समय रो रही है? मैं तेरी पड़ोसिन हूँ, मुझसे न छुपा।"

हरो ने कुछ उत्तर न दिया। वह सोच रही थी कि इसे बताऊँ या न बताऊँ। प्रभात हो चला था; कुछ-कुछ प्रकाश निकल आया था। लाजवन्ती चलने के लिए आतुर हो रही थी। मगर हरो को क्या दुःख है, यह जाने बिना चले जाना उसके लिए कठिन था। उसने तीसरी बार फिर पूछा—"माँ, बता दो ना, तुम्हें क्या दुःख है?"

हरो ने दुःखी होकर कहा—"क्या तुम उसे दूर कर दोगी?"

"हो सका, तो दूर कर दूँगी।"

"यह असंभव है।"

"संसार में असंभव कोई बात नहीं, भगवान सब कुछ कर सकता है।"

हरो थोड़ी देर तक चुप रही; फिर धीरे से बोली—"बेटी का दुःख खा रहा है। रात-रात भर रोती रहती हूँ। जाने यह नाव कैसे पार लगेगी।"

"यह क्यों ? उसके ब्याह का खर्च तो तुम्हारे जेठ ने देना मंजूर कर लिया है।"

"ऐसे भाग होते, तो रोना काहे का था ?"

लाजवन्ती ने अकुलाकर पूछा—"तो क्या यह झूठ है ?"

"बिलकुल झूठ भी नहीं। उसने दो सौ रुपये के गहने बनवा दिये हैं; मगर मिठाई आदि का प्रबन्ध नहीं किया। अब चिन्ता यह है कि बारात आयेगी, तो उसके सामने क्या धरूँगी ? बाराती मिठाई माँगेंगे, पूरियाँ माँगेंगे, हलवा माँगेंगे। यहाँ सूखे सत्तू खिलाने की भी हिम्मत नहीं। यही सोच-सोचकर सूखती जाती हूँ।"

लाजवन्ती ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"क्या गाँव के लोग एक निर्धन ब्राह्मणी की कन्या का ब्याह नहीं कर सकते ? और यह उनकी दया न होगी, धर्म होगा।"

हरो की आँखें भर आईं। वह इस समय निर्धन थी, परन्तु कभी उसने अच्छे दिन भी देखे थे। लाजवन्ती के प्रस्ताव से उसे अत्यंत दुःख हुआ, जैसे नया-नया भिखारी गालियाँ सुनकर पृथ्वी में गड़ जाता है। उसने धीरे से कहा—"बेटी! यह अपमान न देखा जायगा।"

"परन्तु इस तरह तो गाँव-भर की नाक कट जायगी।"

हरो ने बात काटकर कहा—"मैं भी तो इसे सहन नहीं कर सकूँगी। किसी के सामने हाथ फैलाना बुरा है।"

"तो क्या करोगी ? कन्या कुँवारी रक्खोगी ?"

"भगवान् की यही इच्छा है, तो मेरा क्या बस है ? कहीं निकल जाऊँगी। न कोई देखेगा, न बात करेगा।"

लाजवन्ती ब्राह्मणी की करुणा-जनक अवस्था देखकर काँप गई।

उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई कह रहा है कि अगर यह हो गया, तो ईश्वर का कोप गाँव-भर को जलाकर ख़ाक कर देगा। लाजवन्ती अपने आपको भूल गई। उसका हृदय दुःख से पानी-पानी हो गया! उसने जोश से कहा—"चिन्ता न करो, तुम्हारा यह संकट मैं दूर कर दूँगी। तेरी बेटी का व्याह होगा, और बारात के लोगों को मिठाई मिलेगी। तेरी बेटी तेरी ही बेटी नहीं है, मेरी भी है।"

हरो ने वह सुना, जिसकी उसे इच्छा थी, परन्तु आशा न थी। उसके नेत्रों में कृतज्ञता के आँसू छलकने लगे। लाजवन्ती तीर्थ-यात्रा के लिए अधीर हो रही थी। वह सोचती थी—हरद्वार, मथुरा, वृंदावन के मन्दिरों को देखकर हृदय कली की तरह खिल जायगा। मगर जो आनंद उसे इस समय प्राप्त हुआ, वह उस कल्पित आनंद की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़-चढ़कर था। वह दौड़ती हुई अपने घर गई, और संदूक से दो सौ रुपये लाकर हरो के सामने ढेर कर दिये। यह रुपये जमा करते समय वह प्रसन्न हुई थी, पर उन्हें देते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई। जो सुख त्याग में है, वह ग्रहण में कहाँ?

(५)

लाजवन्ती के तीर्थ-यात्रा का विचार छोड़ देने पर सारे गाँव में आग-सी लग गई। लोग कहते थे, लाजवन्ती ने बहुत बुरा किया। देवी माता का क्रोध उसे नष्ट कर देगा। स्त्रियाँ कहती थीं—किस शेख़ी पर रात को रतजगा किया था? साठ-सत्तर रुपये ख़र्च हो गये, अब घर में बैठ गई है। नहीं जाना था, तो इस दिखाव की क्या आवश्यकता थी? कोई कहती थी—देवी-देवतों के साथ यह हँसी-मज़ाक अच्छी नहीं; ले-देकर एक लड़का है, उसकी ख़ैर मनाये। जो बूढ़ी थीं, वे माला की गुरियाँ फेरते-फेरते बोलीं—कलजुग का पहरा है, जो न हो जाय, सो थोड़ा! ऐसा तो आज तक नहीं सुना था! आज तक सुनते थे, आदमी आदमी से बात करके बदल जाते हैं। अब देवताओं से बात करके भी बदलने लगे। पर असली भेद का किसी को भी पता न

था। धीरे-धीरे यह बातें लाजवन्ती के कानों तक भी जा पहुँचीं। पहले तो उसने उनकी कुछ परवा नहीं की, एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल दिया। परन्तु जब सब ओर यही चर्चा और यही बात सुनी, तो उसका चित्त भी डाँवाडोल होगे लगा। हवा ने झक्कड़ का रूप धारण कर लिया था, अब मुसाफ़िर घबराने लगा, अब उसका मन डोलने लगा।

लाजवन्ती सोचती थी—मैंने बुरा क्या किया? एक गरीब ब्राह्मणी की बेटी के विवाह में सहायता देना क्या देवी को पसन्द नहीं? और मैंने तीर्थ-यात्रा का विचार छोड़ नहीं दिया, केवल कुछ काल के लिए स्थगित किया है। इस पर देवी-देवता गुस्से क्यों होंने लगे? मगर दूसरा विचार उठता कि मैंने सचमुच भूल की। देवी-देवतों की भेंट किसी आदमी को देना अपराध नहीं, तो और क्या है? यह विचार आते ही उसका कलेजा काँप जाता और हेम के विषय में भयानक संशय उत्पन्न होने लग जाते। संसार बुराइयों पर पछताता है; लाजवन्ती भलाई पर पछता रही थी। दिन का चैन उड़ गया, रात की नींद हराम हो गई! उसे वहम हो गया कि अब हेम की कुशल नहीं। उसे खेलता देखती, तो उसके हृदय पर कटारियाँ चल जाती थीं। बुरे-बुरे विचार आते थे। जी डरता था, हिम्मत काँपती थी।

इसी तरह कई दिन बीत गये। गाँव में चहल-पहल दिखाई देने लगी। हलवाई की दूकान पर मिठाइयाँ तैयार होने लगीं। गाँव की कुवाँरी कन्याओं के हाथों में मेंहदी रची हुई थी। रात के बारह-बारह बजे तक हरो की छत पर ढोलक बजती रहती, और स्त्रियों के दिहाती गीतों से सारा गाँव गूँजता रहता। एक वह दिन था, जब लाजवन्ती प्रसन्न थी और हरो दुखी थी। आज हरो के यहाँ चहल-पहल थी, मगर लाजवन्ती के यहाँ उदासी बरस रही थी। समय के फेर ने काया-पलट कर दी थी।

रात का समय था; मन्दिर में घंटे बज रहे थे। लाजवन्ती ने आरती का थाल उठाया, और पूजा के लिए चली। मगर दरवाज़े पर

पहुँचकर पाँव रुक गये। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों देवी की मूर्ति उसे दण्ड देने के लिए नेत्र लाल किये खड़ी है। लाजवन्ती का कलेजा धड़कने लगा। वह डरकर दरवाज़े पर बैठ गई, और रोने लगी। जिस प्रकार दुर्बल विद्यार्थी को परीक्षा के कमरे में जाने का साहस नहीं होता। पाँव आगे रखता है, दिल पीछे रह जाता है।

सहसा उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई प्रार्थना कर रहा है। लाजवन्ती का रोम-रोम कान बन गया। उसे निश्चय हो गया कि इस प्रार्थना का अवश्य ही उसके साथ सम्बन्ध है, और वह ग़लती पर न थी। कोई कह रहा था—

"देवी माता! उसे सदा सुहागिन बनाओ। उसके बेटे को चिरञ्जीव रक्खो! उसने एक असहाय ब्राह्मणी का मान रक्खा है, तुम उसको इसका फल दो! उसके बेटे और पति का बाल भी बाँका न हो! यह एक बूढ़ी ब्राह्मणी की प्रार्थना है, इसे सुनो और स्वीकार करो। जिस तरह उसने मेरा कलेजा ठंडा किया है, उसी तरह उसका भी कलेजा ठंडा रक्खो।"

यह ब्राह्मणी हरो थी। लाजवन्ती के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसके सारे सन्देह धुएँ के बादलों की तरह तितर-बितर हो गये। वह रोते हुए आगे बढ़ी, और बूढ़ी ब्राह्मणी के पैरों से लिपट गई।

रात को स्वप्न में वह फिर देवी सम्मुख थी। एकाएक देवी की मूर्ति ने अपने सिंहासन से नीचे उतर कर लाजवन्ती को गले से लगा लिया, और कहा—"तूने एक ग़रीब की सेवा की है, गोया मेरी सेवा की है। मैं तुझसे खुश हूँ, तेरे काम से ख़ुश हूं। लोग तीर्थ-यात्रा करते हैं, तूने महातीर्थ-यात्रा की है। सेवा तीर्थ-यात्रा से बढ़कर है।"

लाजवन्ती की आँख खुल गई। इस समय उसे ऐसी प्रसन्नता प्राप्त हुई, जैसी आज तक कभी न हुई थी। आज उसने पूजा का रहस्य पा लिया था।

अपनी तरफ़ देखकर

(१)

मेरे दफ़्तर के क्लर्कों में साधुराम सबसे जूनियर था। उसका मासिक वेतन केवल पच्चीस रुपये था, मगर उसका काम सबसे अधिक और सबसे सुथरा होता था। मैंने उसे कभी दफ़्तर में देर करके आते नहीं देखा, न मैंने कभी उसके काम में त्रुटि ही पाई। दस से चार बजे तक सिर नीचा किये वह बराबर अपने काम में लगा रहता था। कार्य्य-वशात् अगर मैं कभी बाहर चला जाता तो सब क्लर्क काम छोड़कर बातें करने लग जाते, पर साधुराम इसे अधर्म समझता था, वह उस समय भी बराबर अपने काग़ज़ों पर झुका रहता था। मैंने उसे कभी किसी से लड़ते-झगड़ते नहीं देखा। वह ऐसा भलामानस और सज्जन पुरुष था कि चपरासियों को भी "तू" कहकर नहीं बुलाता था। कई बार मैंने साधु-राम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिए कहा, परन्तु उसे उसने आप ही कर लिया। मैं इसे दफ़्तर का अपमान समझता था और साधुराम को डाँट देता था, परन्तु वह इसे भी चुपचाप सहन कर लेता था। इतना ही नहीं, उसमें और भी कई गुण थे। वेतन थोड़ा होने पर भी उसके वस्त्र दूसरों से साफ़ होते थे, और मुखमण्डल खिला हुआ फूल। मैंने उसे कभी उदास नहीं देखा, परीशान नहीं देखा, थका-हारा नहीं देखा। दफ़्तर के दूसरे आदमी प्रायः अपना काम भी उसे सौंप दिया करते थे। कोई और होता तो जल कर कोयला हो जाता, मगर साधुराम के मस्तक पर बल न पड़ता था। वह उसे भी ऐसे परिश्रम और मनोयोग से करता, जैसे यह बेगारे न हो, उसका निजी काम हो। उसके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना स्थान बना लिया। मैं उसे अपने कमरे में बुलाने लगा। अब मुझे मालूम हुआ कि उसका हृदय आत्म-ज्ञान का सरोवर है। बातचीत करते समय वह कभी रोब में नहीं

आता था—जिस बात पर अड़ जाता, उससे उसे हटाना आसान न था। मैं ज्यों-ज्यों उससे अधिक परिचित होता गया, उसका प्रेम हृदय में घर करता गया, यहाँ तक कि मैंने उसे अपने मकान पर भी बुलाना आरम्भ कर दिया।

अब वह प्रतिदिन सायङ्काल को मेरे यहाँ आता था और मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था। आठ दस दिन ही के बाद मेरे लड़के-बालों को उससे इतना प्रेम हो गया कि साँझ होते ही द्वार पर जा खड़े होते, और यदि उसे आने में कुछ भी विलम्ब हो जाता, तो व्याकुल से हो जाते। परन्तु साधुराम आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने देता था। मेरी सम्मति में वह किसी दफ़्तर का इनचार्ज (Incharge) होने के योग्य था, परन्तु प्रारब्ध ने उसे कहाँ फेंक रक्खा था, सोना पीतल की खान में पड़ा था, और सोने को शिकायत न थी। उलटी पीतल को शिकायत थी।

(२)

मुझे दफ़्तर में आये हुए एक वर्ष हो गया। इस बीच में कई स्थान खाली हुए, जिनके लिए जूनियर क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे, परन्तु, साधुराम ने ऐसी कोई कोशिश न की। मैं जानता था कि साधुराम उनके लिए सब तरह से उपयुक्त है, चाहता था कि अवसर मिले तो उसे किसी उच्च पद पर नियत कर दूँ, मगर वह इतना सीधा सादा और ऐसा सन्तोषी था कि उसने एक बार भी मुझसे नहीं कहा कि मेरा ध्यान रखना। पहले-पहल मैंने इसे अभिमान समझा और तरक्की का हर एक अवसर दूसरों को देता गया। साधुराम पच्चीस ही पर पड़ा रहा। वह मेरे पास प्रतिदिन आता था, मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था, मगर इस विषय में उसने एक बार भी कहने की आवश्य-कता नहीं समझी। यहाँ तक कि उसके अभिमानी होने के बारे में मेरी सम्मति बदल गई, और मैंने निश्चय कर लिया कि अबकी बार साधु-राम का ध्यान रक्खूँगा, और जो जगह खाली होगी, उसे दूँगा।

सौभाग्य से मुझे अधिक प्रतिक्षा न करनी पड़ी। रिकार्ड ब्राँच का एक क्लर्क छः महीने की छुट्टी पर जा रहा था। उसका वेतन ५०) था। दफ़्तर के कई क्लर्कों ने अर्जियाँ दीं और अपने अपने हक़ पर ज़ोर दिया। मगर साधुराम इस बार भी चुप रहा, जैसे उसे इस घटना का ज्ञान ही न था। वह उसी तरह शान्त था, परन्तु मुझे शान्ति न थी। सन्ध्या का समय था, वह नियमानुसार मेरे घर आया। मैंने छूटते ही कहा—"साधुराम ! तुमने कुछ सुना ?"

साधुराम ने बैठते हुए पूछा—"क्या ?"

"ग़ुलाम नबी छः मास की छुट्टी पर जा रहा है।"

साधुराम का मुखमण्डल तमतमा उठा, जैसे किसी ने उसे गाली दे दी हो, फिर भी सँभल कर बोला—"जी हाँ, मैंने सुना है। पर बात क्या है ?"

"उसके लिए बहुत से क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे हैं।"

"जी।"

"परन्तु तुमने कोई कोशिश नहीं की। यह तुम्हारा हक़ है। अरजी भेजो।"

साधुराम ने बेपरवाई से उत्तर दिया—"मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

मुझे आश्चर्य हुआ—"क्या कहते हो ? तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं ?"

"रत्ती भर भी नहीं।"

"तो उन्नति के सारे अवसर हाथ से खो दोगे ?"

"यह आपका काम है। गवर्नमेंट ने यह उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार आपको दिया है। अब यह निर्णय करना आपका काम है, और काम ही नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्य है, कि वेतनवृद्धि का जो अवसर आये, उससे वही आदमी लाभ उठाये जो वास्तव में उसका अधिकारी हो। यदि आप अपने इस कर्तव्य का ध्यान नहीं रखते तो परमात्मा के दरबार में आप अपराधी होंगे। मुझे प्रार्थना-पत्र भेजने की आवश्यकता

नहीं। मेरा काम काम करना है, आपका काम काम देखना है। मैं अपना काम करता हूँ, आप अपना काम देखें।

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी और आत्माभिमानी पुरुष समझता था, मगर वह ऐसा निर्भय और खरी खरी मुँह पर सुनानेवाला भी होगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसकी पदवी मेरी आँखों में और भी ऊँची कर दी। मैं लज्जित होकर बोला—"साधुराम! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब भूल न होगी—यह जगह तुम्हीं को मिलेगी। और तुम्हें अरज़ी देने की भी ज़रूरत नहीं।"

साधुराम बोला—"इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहाँ आना जाना बना हुआ है। यदि यह जगह मुझे इस वजह से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूँगा। हाँ, अगर सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूँ, तो दूसरी बात है।"

क्या शब्द थे, मेरे हृदय में तीर से चुभ गये, सिर झुकाकर बोला—"मेरा सचमुच यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह chance हाथ आया है, इसे न जाने दूँगा।"

साधुराम ने नम्रता से—उस नम्रता से जिसमें आत्मगौरव का भाव झलकता था—कहा—"Thank you" और सिर झुका लिया।

अँगरेज़ी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे, और हर बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक है—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल, परन्तु वही शब्द साधुराम के मुँह से सुनकर ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी को कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन ग़ुलाम नबी की जगह साधुराम नियुक्त हो गया। दफ़्तर में हलचल सी मच गई। सारे क्लर्क साधुराम के दुश्मन हो गये। शायद उनका यह खयाल था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वह वेतन-वृद्धि लेने के लिए। मगर मेरे इस निर्णय ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया। अब वह साधुराम को सताने लगे, जलाने

लगे, तंग करने लगे। कोई कहता, इससे ज़रा सोच समझ कर बात करना, सुपरिन्टेन्डेन्ट की मूँछ का बाल है। कोई कहता, वेतन-वृद्धि का मूलमन्त्र चापलूसी है, यह बात साधुराम ने सीख ली है। कोई कहता, हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जाय, तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता, हम तो इसे बड़ा धर्मात्मा समझते थे, मगर यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अन्धकार भी हो सकता है। कोई कहता, मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी। मगर साधुराम पर इस आँधी का ज़रा भी असर न पड़ा। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन, शान्त-स्वभाव, प्रसन्न-चित रहता था, उसी प्रकार अब भी रहता। न उसे पदवृद्धि ने अभिमानी बनाया, न क्लर्कों के विरोध ने दुखी किया—मेरी आँखों में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। ख़याल आया, कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस चला जाता है। शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नहीं, पक्षपात से रहित, सदैव सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन। जिसके मस्तक पर कभी बल नहीं आता, और जो आत्मसंयम में ऐसा अचल और अटल है, जैसे समुद्र में चट्टान।

(३)

मगर यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहाँ और गुण थे, वहाँ उसमें यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर प्राण देता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु स्त्री की आँख में आँसू देखकर उसके हृदय में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया, जिस प्रकार तूफ़ान में नौका डोलने लगती है। अब उसके चेहरे पर वह कान्ति न थी, आँखों में वह तेज न था। फूल रह गया था, मगर उसका रूप-लावण्य कहाँ उड़ गया? यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता तो हृदय व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ़्तर में अब भी आता था, काम अब भी करता

नहीं। मेरा काम काम करना है, आपका काम काम देखना है। मैं अपना काम करता हूँ, आप अपना काम देखें।

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी और आत्माभिमानी पुरुष समझता था, मगर वह ऐसा निर्भय और खरी खरी मुँह पर सुनानेवाला भी होगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसकी पदवी मेरी आँखों में और भी ऊँची कर दी। मैं लज्जित होकर बोला—"साधुराम! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब भूल न होगी—यह जगह तुम्हीं को मिलेगी। और तुम्हें अरज़ी देने की भी ज़रूरत नहीं।"

साधुराम बोला—"इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहाँ आना जाना बना हुआ है। यदि यह जगह मुझे इस वजह से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूँगा। हाँ, अगर सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूँ, तो दूसरी बात है।"

क्या शब्द थे, मेरे हृदय में तीर से चुभ गये, सिर झुकाकर बोला—"मेरा सचमुच यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह chance हाथ आया है, इसे न जाने दूँगा।"

साधुराम ने नम्रता से—उस नम्रता से जिसमें आत्मगौरव का भाव झलकता था—कहा—"Thank you" और सिर झुका लिया।

अँगरेज़ी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे, और हर बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक है—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल, परन्तु वही शब्द साधुराम के मुँह से सुनकर ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी को कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन ग़ुलाम नबी की जगह साधुराम नियुक्त हो गया। दफ़्तर में हलचल सी मच गई। सारे क्लर्क साधुराम के दुश्मन हो गये। शायद उनका यह खयाल था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वह वेतन-वृद्धि लेने के लिए। मगर मेरे इस निर्णय ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया। अब वह साधुराम को सताने लगे, जलाने

लगे, तंग करने लगे। कोई कहता, इससे ज़रा सोच समझ कर बात करना, सुपरिन्टेन्डेन्ट की मूँछ का बाल है। कोई कहता, वेतन-वृद्धि का मूलमन्त्र चापलूसी है, यह बात साधुराम ने सीख ली है। कोई कहता, हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जाय, तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता, हम तो इसे बड़ा धर्मात्मा समझते थे, मगर यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अन्धकार भी हो सकता है। कोई कहता, मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी। मगर साधुराम पर इस आँधी का ज़रा भी असर न पड़ा। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन, शान्त-स्वभाव, प्रसन्न-चित रहता था, उसी प्रकार अब भी रहता। न उसे पदवृद्धि ने अभिमानी बनाया, न क्लर्कों के विरोध ने दुखी किया—मेरी आँखों में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। ख़याल आया, कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस चला जाता है। शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नहीं, पक्षपात से रहित, सदैव सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन। जिसके मस्तक पर कभी बल नहीं आता, और जो आत्मसंयम में ऐसा अचल और अटल है, जैसे समुद्र में चट्टान।

(३)

मगर यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहाँ और गुण थे, वहाँ उसमें यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर प्राण देता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु स्त्री की आँख में आँसू देखकर उसके हृदय में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया, जिस प्रकार तूफ़ान में नौका डोलने लगती है। अब उसके चेहरे पर वह कान्ति न थी, आँखों में वह तेज न था। फूल रह गया था, मगर उसका रूप-लावण्य कहाँ उड़ गया? यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता तो हृदय व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ़्तर में अब भी आता था, काम अब भी करता

था, मगर वह पहली बात न थी। जिस सन्तोष की मूर्ति ने वेतन-वृद्धि के अवसर हाथ से जाते देखकर मुँह न खोला था, जिस गम्भीर सूरमा ने दफ़्तर के क्लर्कों की सर्वथा अनुचित नोंक-झोंक पर अपनी आन न छोड़ी थी, वही साधुराम अब हर रोज़ मेरे पास आकर छुट्टी के लिए मिन्नतें करता था। और मैं-हाँ मैं—उसके इस परिवर्तन पर प्रसन्न था, क्योंकि मैं उसे देवता नहीं, आदमी देखना चाहता था। और मानव-चरित्र का गुण है कि बड़े से बड़ा धैर्यधारी हृदय भी एक विशेष सीमा पर पहुँचकर विचलित हो जाता है। देवता में गुण ही गुण होते हैं, आदमी में कमज़ोरियाँ भी होती हैं। आदमी को आदमी की कमज़ोरियाँ भी भली लगती हैं।

इसी तरह कई महीने बीत गये। साधुराम अपनी स्त्री की सेवा-शुश्रूषा में तन्मय हो रहा था। उसका मुँह कुम्हला गया था, हँसी-ख़ुशी मर चुकी थी, फिर भी सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ था। दिन भर दफ़्तर में काम करता, रात के स्त्री के सिरहाने बैठता, स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। मगर उसका इधर ध्यान न था। वह अपने प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति से अपनी स्त्री कि चिकित्सा कर रहा था। मैं उसे प्रायः छुट्टी दे दिया करता था। उस समय उसकी आँखों में कृतज्ञता और बेबसी के भाव कैसे हृदय-भेदी होते थे?

दोपहर का समय था, मैं अपने कमरे में बैठा बिल देख रहा था। इतने में चपरासी ने आकर कहा, "हुज़ूर! लाला सौदागरमल आये हैं।"

लाला सौदागरमल के यहाँ से हम काग़ज़ ख़रीदा करते थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत नागुवार गुज़रा। मगर फिर भी चपरासी से कहा—"बुला लो।"

लाला सौदागरमल अन्दर आये, और आते ही बोले, "माफ़ कीजिएगा। मैं एक शिकायत लेकर आया हूँ।"

काग़ज़ की ख़रीद साधुराम के हाथ में थी। मैंने हिचकिचाते हुए जवाब दिया—"कहिए "क्या शिकायत है?"

सौदागरमल कुछ क्षण चुप रह कर बोले—"मैं बाहर गया हुआ था। मेरी ग़ैरहाज़िरी में आपके क्लर्क साधुराम ने मेरे आदमी से मिलकर जाली बिल बनवा लिया है, और इस तरह से चार सौ रुपया उड़ा लिया है।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने कलेजे पर कोयले रख दिये हों, कुर्सी से उछल कर बोला—"मुझे विश्वास नहीं होता। आपको धोखा हुआ है।"

"बुलवा कर पूछ लीजिए। अभी सब बात खुल जायगी।"

"परन्तु पूछूँ क्या? वह आदमी नहीं देवता है। सारा दफ़्तर उसकी सौगन्ध खाता है। वह मरता मर जायगा, पर ऐसा काम कभी न करेगा। मैं उसे मुद्दत से जानता हूँ।"

"फिर भी ज़रा बुलवा तो लीजिए।"

मैंने साधुराम को बुलवाया और उसे सिर से पाँव तक देखते हुए पूछा, "मेरे पास काग़ज़ के सम्बन्ध में कुछ शिकायत पहुँची है। क्या यह सच है?"

साधुराम के मुख का रङ्ग लाश के समान सफ़ेद हो गया। उसने मेरी तरफ़ इस तरह देखा, मानो मैं उसका वध करने लगा था। साथ ही लाला सौदागरमल की ओर देखा। इस दृष्टि में आँसू थे, और आँसुओं की ओट में बेबसी छिपी हुई थी। मैंने अधीर होकर पूछा—"चुप क्यों हो, बोलो! क्या यह सच है?"

साधुराम ने कुछ क्षण तक सोचा, और तब साहस से उत्तर दिया—"जी हाँ! सच है।"

"तुमने कितना रुपया खाया है?"

"चार सौ।"

"और इनके नौकर ने?"

"उसने भी चार सौ।"

मैंने उसकी आँखों में अपनी आँखें डाल कर कहा—"तुम जानते हो, तुम क्या कह रहे हो? तुम कह रहे हो तुमने चोरी की है।"

"जी हाँ। नहीं कैसे कर सकता हूँ। भूल हो गई। अब आपकी दया पर हूँ। चाहे बचा लें, चाहे जीवन नष्ट कर दें।"

साधुराम ने इस समय तक जो न किया था, वह आज किया। उसके मुखमण्डल से आत्म-सम्मान का भाव इस तरह लुप्त हो गया था, जैसे सफ़ेदी को स्याही भगा देती है। यह देख कर मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी। यही अपराध अगर दफ़्तर के किसी दूसरे आदमी से होता, तो मैं उस पर इतना ध्यान न देता, और डिपार्टमेंटल कार्य्य-वाई करके इस मामले को दबा देता। मगर इस पाप में साधुराम का हाथ देखकर मुझे ज़हर चढ़ गया। मैं उसे कितना नेक समझता था। उस पर कितना विश्वास करता था। मुझे कभी उस पर सन्देह तक नहीं हुआ था। मगर आज उसने अपनी साख गँवा ली। आज उसने अपनी आन मिटा दी। आज उसने अपना गौरव अपने हाथों से बर-बाद कर दिया। मुझे अफ़सोस हुआ। मैंने ठंडी साँस भरी और कहा—"साधुराम! मुझे तुमसे यह आशा न थी। तुमने मेरा मन तोड़ दिया है। मुझे तुम पर श्रद्धा थी, तुमने मेरी वह श्रद्धा छीन ली है।"

(४)

पापी का सिर ऊँचा नहीं उठता। साधुराम ने भूमि की ओर देखते हुए जवाब दिया—"साहब! अब तो हो गया! इस बार माफ़ कर दीजिए, फिर कभी कोई अपराध न होगा। सच कहता हूँ, यह मेरा पहला पाप है, और अगर आप क्षमा कर दें, तो यही आख़िरी हो जायगा।"

मैं क्रोध से पागल हो रहा था—झल्ला कर बोला—"मैं माफ़ नहीं करूँगा। तुम दोनों को पुलिस के हवाले कर दूँगा।"

साधुराम ने सिर झुकाकर कहा—"क्या आप माफ़ नहीं कर सकते?"

साधुराम के पाँवों से पृथ्वी खिसकती हुई मालूम हुई। सारा शरीर काँपने लगा। किसी दूसरे समय में यह दृश्य मेरे क्रोध पर जल का

काम कर जाता, मगर इस समय वही दृश्य तेल बन गया। मैंने कड़क कर कहा—"यह नहीं होगा। तुम्हारी जगह जेलखाना है।"

सौदागरमल उठ कर चले गये, मेरे क्रोध की मात्रा और भी बढ़ गई। मैंने फ़ोन का चोंगा हाथ में लिया और पुलीस लाईन का नम्बर माँगा। साधुराम की आँखों में आँसू आ गये। रोते रोते बोला—"जनाब! मेरी स्त्री बीमार थी.....मेरे पास पैसा न था...मुझे किसी ने उधार न दिया।"

इससे आगे उसका कण्ठ रुँध गया। वह एक शब्द भी न बोल सका। मेरे सामने से परदा उठ गया। वह विशुद्ध-आत्मा जो सारे दफ़्तर में सज्जनता की मूर्ति समझा जाता था, जिसका आत्मसम्मान लोगों के लिए आदर्श था, जिसकी नेक-नीयती पर शङ्का करना पाप था, जो सदा अपना सिर ऊँचा उठाकर चलता था, वही देवता इस समय अपराधी अभियुक्त की नाईं मेरे सामने खड़ा था। परन्तु यह पाप—यह अपराध उसने लोभवश नहीं किया, धन की लालसा से नहीं किया। उसे अपनी प्यारी स्त्री के इलाज के लिए रुपये की ज़रूरत थी, और रुपया उसके पास न था। वह इस कठिन परीक्षा में फेल हो गया। पर क्या वह अपराधी था? एकाएक मुझे याद आया कि ऐसा समय मुझ पर भी आ चुका है। कई वर्ष हुए, मेरी स्त्री भी बीमार थी। उन दिनों मेरा मासिक वेतन भी बहुत थोड़ा था। दाल रोटी का ख़र्च भी कठिनाई से चलता था। इस पर घर में बीमारी। हाथ में पैसा तक न रहा। मित्रों से सहायता माँगी, मगर किसी ने परवा न की। निराशा ने अँधेरा फैला दिया। इसी अँधेरे में पाँव धैर्य्य की शिला से फिसलते हैं, और सत्यमार्ग आँखों से ओझल होता है। इसी प्रलय की रात में आदमी आयु भर की कमाई लुटा बैठता है, और मोहरूपी डाकू उसे पाप के रस्ते पर डाल देता है। ज़्यादा तेज़ दौड़नेवाला आदमी कभी कभी मुँह के बल गिर जाता है। उस समय मैंने मोह का सामना किया, पर कुछ बन न सका। धर्म्म की बाज़ी हार गया और चोरी कर बैठा। विचार आया, साधुराम

के जीवन में भी वही प्रलय की रात आई हुई थी। फ़र्क केवल इतना है कि इसका दोष प्रकट हो गया है, मेरा अपराध अभी तक छिपा हुआ है। क्या इसी से मुझे यह अधिकार हो गया है कि मैं इसका जीवन नष्ट कर दूँ। मैंने फ़ोन हाथ से रख दिया। स्मृति ने फिर अतीतकाल के दफ़्तर खोल दिये। उस समय मैं कितना सहमा हुआ था। दिन रात यही सोचता रहता था कि अगर मेरी करतूत खुल गई, तो क्या बनेगा? लोग हैरान रह जायँगे, कहेंगे, हम तो इसे महात्मा समझे हुए थे। मगर यह हज़रत निकले। शक्ल देवताओं की है, काम शैतानों का है। वही अवस्था आज फिर मेरे सामने थी। मैंने सोचा, अगर इसे पुलीस के हवाले कर दिया, तो इसकी बीमार स्त्री का क्या हाल होगा? मेरी आँखों में आँसू झलकने लगे। साधुराम के लिए हृदय में सोया हुआ प्रेम जाग उठा। मैंने लम्बी साँस लेकर सिर उठाया और कहा—"साधुराम! मैं तुम्हें माफ करता हूँ। मगर यह रुपया तुम्हें लौटाना होगा।"

डूबते हुए को किनारा मिल गया। साधुराम का चेहरा चमकने लगा, जैसे चाँद बदलियों से निकल आया हो। जो आनन्द फाँसी के तख़्ते पर चढ़ते हुए अभियुक्त को अपनी रिहाई का समाचार सुनने में होता है, वही आनन्द साधुराम को इन शब्दों से हुआ। वह घुटनों के बल बैठ गया, और मेरी तरफ़ अश्रुपरिप्लुत नेत्रों से देख कर बोला—"यह उपकार आयु भर न भूलूँगा।" आपने मुझे बचा लिया।"

(५)

इस घटना को कई वर्ष हो चुके हैं। साधुराम अब भी मेरे ही दफ़्तर में काम करता है। वह आज-कल १५०) पाता है, और बड़े मज़े में है। उसने अपनी सच्चरित्रता से अपने पाप के कलङ्क को धो दिया है। दफ़्तर के आदमियों की उस पर अब भी अटल श्रद्धा है। और इतना ही क्यों, उसकी सज्जनता की धाक सारे नगर में बैठी हुई

है। वह प्रायः मेरे मकान पर आता-जाता रहता है। उसे देखकर मेरा हृदय फूल की तरह खिल जाता है, और मेरे लड़केबाले तो उसे अपना गुरु समझते हैं। और मैं सोचता हूँ, उस समय अगर मैं उसे माफ़ न कर देता, तो आज वह क्या होता? चोर या डाकू या हत्यारा। आज वह समाज का एक मुफ़ीद पुरज़ा है। उस समय वह समाज का गला-सड़ा फोड़ा होता।

मुझे अपने फ़ैसले पर ख़ुशी होती है, मगर मैं इस खुशी का ज़िक्र साधुराम से कभी नहीं करता।

घोर पाप

(१)

दुर्व्यसनों और दुराचारों की आधी रात सुरा और सौंदर्य के बाज़ार में गुज़ारने के बाद महताबराय गाड़ी में बैठकर अपने घर को रवाना हुए। वह चाहते थे कि प्रभात का प्रकाश पकने से पहले-पहले वह उस पाप-पुरी से परे चले जायँ, और बनारस का कोई प्रतिष्ठित पुरुष उन्हें वहाँ न देख सके।

रात तीन पहर से ज़्यादा बीत चुकी थी। चारों तरफ़ निस्तब्धता का साम्राज्य था। और वह बाज़ार, जो रात के दस-बारह बजे तक बनारस का सबसे ज़्यादा प्रकाशमय और जीता-जागता बाज़ार बना रहता है, इस समय लुटे हुए मेले की तरह सुनसान था। हाँ किसी-किसी मकान की मध्यम रोशनी या आवाज़ इस बात का प्रमाण थी कि अभी तक इस घर के रहनेवाले जाग रहे हैं। जैसे आग बुझ जाने के बाद भी कभी-कभी कोई चिनगारी चमक जाती है, उसी तरह उस सन्नाटे में भी किसी-किसी घर से कोई धीमी-सी आवाज़ कभी-कभी सुनाई दे जाती थी।

महताबराय की गाड़ी चल रही थी। उनके चारों ओर अँधेरा था। मगर उनका दिमाग अभी तक उसी कलंक-कलुषित कौमुदी के प्रकाश से प्रकाशमान था, जिसके पास से वह उठकर आ रहे थे। उनकी आँखों में अभी तक वही दृश्य नाच रहे थे। उनके कानों में अभी तक वही तानें गूँज रही थीं। शरीर घर को जा रहा था, आत्मा वहीं रुका हुआ था।

एकाएक गाड़ी एक मोटर से टकराई, और उलट गई। लाला महताबराय ने बचने का बहुत प्रयत्न किया, पर बच न सके। शराब, यौवन और सौन्दर्य के मद से मतवाले काँपते हुए हाथ गिरती हुई

देह को न सँभाल सके। उनकी ऊँगलियाँ सड़क की मिट्टी पर से फिसल गईं; और उच्छृंखल घोड़े का एक पैर उनके सिर पर से गुज़र गया। एक हलकी-सी चीख़ हवा में गूँजी, और इसके बाद महताबराय बेसुध हो गये। मोटर के अँगरेज़ मालिक ने, यह सोचे बिना कि कौन गिरा है, और किस तरह गिरा है, सिगार का कश लगाकर अपने शोफ़र से पूछा—"मोटर तो नहीं टूटा ?"

शोफ़र ने मोटर से नीचे उतरकर मोटर को अच्छी तरह देखा और उत्तर दिया—"नहीं हुजूर।"

यह सुनकर साहब को धीरज हुआ। बोले—"ये काला लोग बिलकुल गडा के माफक है। हम इस एक्सीडेंट का रिपोर्ट करेगा।"

शोफ़र ने मोटर चला दिया। मोटर अपनी तेज़ चाल से रात के सन्नाटे को तोड़ता हुआ निकल गया। तब कोचवान ने बड़ी कठिनाई से अपने घोड़े को उठाया, और गाड़ी लेकर भाग गया। उसे डर था कि अगर मेरा नंबर नोट हो गया, तो मुझ पर भी मुसीबत आ जायगी। थोड़ी देर के बाद मोटर और गाड़ी दोनों आमने सामने के अँधेरे में लोप हो गये, और उनका शोर दूरी में डूब गया।

महताबराय वहीं सड़क पर बेसुध पड़े थे, उनके सिर से लहू बह रहा था, और उनके चारों ओर रात का अँधेरा और सन्नाटा था और उन्हें देखनेवाला कोई न था।

गाड़ीवाले को थोड़ी दूर जाकर एक दूसरा गाड़ीवाला मिला। उसने उस दूसरे कोचवान को न देखा, न देखने का प्रयत्न किया। उसको भय था, कहीं वह उसे पहचान न ले। वह अपनी आवाज़ को बदलकर, और अपने मुँह को छिपाकर, ज़ोर से बोला—"ज़रा बचकर जाना। रास्ते में एक आदमी बेहोश पड़ा है। कहीं नीचे आकर कुचल न जाय।"

इस दूसरी गाड़ी में बनारस की सबसे सुन्दर प्रसिद्ध रंडी तारा सवार थी, जिसके रूप-लावण्य ने थोड़े ही दिनों में दालमंडी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब रसिक लोगों को अपना मतवाला बना

लिया था, और जिसके कोकिला के समान मधुर स्वर ने व्याकुल-हृदयों में आग लगा दी थी। मगर उसके पवित्र भाव सर्वथा मर चुके हों, यह बात न थी। उनमें अभी तक जीवन का कुछ अंश बाक़ी था। महताबराय को इस बेबसी में देखकर उसके हृदय में एक कसक-सी उठी। स्वाभाविक करुणा एकाएक जाग उठी। जैसे रात के सन्नाटे में बाल्यावस्था में सुने हुए किसी संगीत की तान कभी-कभी सुनाई दे जाती है। उस तान में कैसा आकर्षण होता है, कैसी मोहनी-शक्ति! उसे सुनकर नींद खुल जाती और बीते हुए दिन आँखों-तले फिर जाते हैं। यही दशा तारा की हुई। महताबराय की बेबसी ने उसके नारी-हृदय की सोई हुई करुणा को जगा दिया। उस करुणा को, जो बचपन, और केवल बचपन की अबोध और पुण्य-मय अवस्था ही में दिखाई दे सकती है! महताबराय अपने आपको कलंकित कर चुके थे। मगर यह बात उनके मुख पर से प्रकट न होती थी। उनके मुख पर अभी तक वही सरलता थी, वही भोलापन, जो भले लोगों की संपत्ति है। जड़ों में कीड़ा लग चुका था; मगर अभी तक वृक्ष की हरियावल में अंतर न आया था। तारा ने अपने नौकर की सहायता से महताबराय को गाड़ी में डाला, और उन्हें अस्पताल ले चली।

(२)

कितना फ़र्क़ था। तारा की सोई हुई सद्भावनायें जाग उठीं उसे स्वयं अपने से, अपने कर्म से, अपने घर से, उस घर की विलास-सामग्री से, घृणा होने लगी। महताबराय की मा-बहन और स्त्री के प्रेम-पवित्रता, और लज्जा ने उसके घृणित जीवन को उसकी दृष्टि में और भी घृणित कर दिया, जैसे काली वस्तु सफ़ेद वस्तु के सामने आकर अधिक काली प्रतीत होती है। वह बाल्यावस्था ही से सौंदर्य का सौदा करनेवाली सृष्टि के जल-वायु में पली थी। इसलिए इससे पहले उसे भले घर का भला जीवन देखने का अवसर न मिला था। उसे यह भी मालूम न था कि पत्नी-भाव क्या और कैसा होता है? वह दौलत की हरजाई बेटियों में उत्पन्न हुई, निर्लज्जता की गोद में

पली और पाप के आँगन में बड़ी हुई। महताबराय के घर की स्त्रियों की सद्भावनाओं और नेकियों ने उसके हृदय में हलचल मचा दी। जब महताबराय की स्त्री अपने रोगी पति की ओर देखकर अपने देवियों जैसे लज्जा से काँपते हुए हाथ उनके मस्तक पर फेरती थी। जब उनकी माता अपने बेटे की ओर ऐसी दृष्टि से, जो तारा ने इससे पहले कभी न देखी थी, देखती थी। जब उनकी बहन उस प्रेम से, जिसमें स्वार्थ, बनावट या थकन की छाया तक न थी, सेवा करती थी, तो तारा के हृदय पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वह अपने आप को भूल जाती और सच्चे आनंद में झूमने लग जाती थी। कभी-कभी तो उसे संदेह होता था कि वह किसी दूसरी दुनिया में पहुँच गई है। वह सोचती थी, क्या इस स्वार्थमय लोभी संसार में यह भी हो सकता है ? उसके सामने एक नया संसार खुल गया। यह संसार कैसा सुन्दर, कैसा पवित्र था ? इसमें प्रेम के और आत्मबलिदान के फूल थे, पर कपट के काँटे न थे। यहाँ दिन का प्रकाश था, पर रात का अन्धकार न था। जिस तरह उस आदमी को, जो दूध के धोखे में सदा छाँछ पीता रहा हो, अकस्मात् एक दिन दूध पीकर अपने अतीत दुर्भाग्य का अनुभव होता है, ठीक उसी तरह तारा को प्रेम का यह सच्चा और पवित्र दृश्य देखकर अपने दुर्दैव का ध्यान आया। हृदय में किसी ने भाला चुभो दिया। दिन-रात अपनी अवस्था पर अफ़सोस करने लगी, कुढ़ने लगी, रोने लगी। वह चाहती थी, किसी तरह बीता हुआ समय वापस आ जाय। मगर आँख से गिरा हुआ आँसू और कमान से निकला हुआ तीर कब वापस आया है ! धीरे-धीरे उसने उस आदमी की तरह, जो अपनी जन्म की निर्बलता को अपने बाहु-बल से पूरा करना चाहता है, इस पतित अवस्था से ऊपर उठने का निश्चय कर लिया। बात साधारण न थी। तारा के हृदय में कई दिन तक हलचल मची रही। ऐसी हलचल किसी राजा के हृदय में अपना राज्य छोड़ते समय भी न मची होगी। तारा सोचती थी, मैं क्या करूँगी ? किधर जाऊँगी, जीवन का रास्ता कैसे ढूँढ़ूँगी ?

परन्तु महताबराय की बहन और स्त्री की सहानुभूति ने कठिनता आसान कर दी। उन्होंने कहा—"चिन्ता न करो। हम तुम्हारा प्रबन्ध कर देंगी। तुम भूखों न मरने पाओगी। दुनिया बड़ी है, इसमें तुम्हारे लिए भी जगह निकल आयेगी।"

तारा ने यह सुना, तो ऐसी खुश हुई, जैसे जलती हुई दुपहर में किसी प्यासे को मीठे जल का स्रोत दिखाई दे जाय, या किसी भूले-भटके को घर का रास्ता सूझ जाय।

(३)

आठ दिन बीत गये। महताबराय अब पहले से अच्छे थे; पर अभी तक अस्पताल में थे। एक दिन सवेरे तकिया लगाये बैठे थे, और अपनी बहन किशोरी से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। इतने में उनकी आँखें दरवाज़े की ओर गईं। वहाँ तारा खड़ी थी। उन्होंने उसे देखा, और कुछ देर के बाद अपनी दुर्बल उँगली से उस ओर इशारा करके पूछा—"वह कौन है?"

किशोरी ने सोचा, वह समय आ गया, जिस की प्रतीक्षा कर रही थी।

महताबराय ने फिर पूछा—"वह कौन है?"

किशोरी ने उत्तर दिया—"यह वह स्त्री है, जिसने तुम्हारे प्राण बचाये हैं।"

महताबराय काँपकर बोले—"वह समय अब भी याद आता है, तो आँखों-तले अँधेरा छा जाता है। परमात्मा ने बचा लिया। अब सोचता हूँ, अगर यह स्त्री उस समय उधर न आती, तो क्या होता?"

"अब इस बात का ज़िक्र न करो।"

"कैसा विकट समय था?"

"याद आते ही कलेजा काँप जाता है।"

"मगर यह स्त्री कौन है, यह तुमने न बताया।"

किशोरी ने थोड़ी देर के बाद कहा—"कोई हो, पर उसने हम पर जो उपकार किया है, वह थोड़ा नहीं है।"

"यह कौन कहता है, इसने मुझे नया जीवन दिया है।" इसने मेरी जान बचाई है।

"जीवन-भर सिर न उठा सकेंगे।"

"मगर वह है कौन ?"

"उसने तुम्हारे प्राण बचाये हैं"

"यह उस समय घर से बाहर कहाँ जा रही थी ?"

किशोरी ने इस तरह, जैसे सुना ही नहीं, कहा—"अब कभी रात को घर से बाहर न निकलना, अँधेरे में ऐसी घटनाएँ प्रायः हो जाया करती हैं। कोई पुण्यकर्म सामने आ गया, जो इस स्त्री की दृष्टि पड़ गई, नहीं तो काशी के लोग मरते के मुँह में पानी नहीं डालते। देखते हैं, अपनी राह चले जाते हैं।"

महताबराय ने आकाश की ओर देखते हुए ठंडी साँस भरी, और उत्तर दिया—"इस घटना ने मेरी आँखें खोल दीं। मगर काम होने पर घर से बाहर निकलना ही पड़ता है, आदमी काम छोड़कर घर में कैसे बैठ रहे ?"

"बाबा, तुम्हारे इन कामों ने मार डाला। क्या अब भी न सँभलोगे ?"

किशोरी की आँखों में आँसू थे, आँसुओं में विकलता। इन आँसुओं का मूल्य वही समझ सकता है, जिसके अपनी बहन हो। महताबराय ने उन आँसुओं को देखा, तो व्याकुल हो गये; बोले—"अच्छा! अब रात के समय न निकलूँगा, कभी न निकलूँगा। चाहे कुछ ही हो जाये।"

"हँसी करते हो मेरी तुम !"

"नहीं किशोरी, मैं सच्चे दिल से कह रहा हूँ। हँसी नहीं करता।"

"जानते नहीं हो, तुम्हारा ही मुँह देख-देखकर तो सारा घर जीता है। हमारा और है कौन ?"

"अब से कान को हाथ लगाया।"

"थोड़ा संकट दिखाया है तुमने ? यह तुम्हारा दूसरा जन्म है !"

"अब बताओ, यह स्त्री कौन है ?"

"एक दुखिया है।"

"अगर ग़रीब है, तो मैं इसे मुँह माँगा धन दूँगा। यह भी क्या कहेगी, कि किसी की मदद की थी। खुश कर दूँगा।"

"यह रुपये से खुश न होगी।"

"तो इसे क्या दुःख है, मैं उसे दूर करने के लिए सब कुछ करूँगा।"

किशोरी को भाई के इन शब्दों पर कदाचित् संदेह था; धीरे से बोली—"प्रतिज्ञा करते हो ?"

"हाँ प्रतिज्ञा करता हूँ।"

"और उस प्रतिज्ञा को पूरा करोगे ?"

"मेरे शब्दों पर आज तक किसी ने संदेह नहीं किया।"

यह कहते-कहते उनका मुँह लाल हो गया, आँखों में क्रोध झलकने लगा। इस समय तक गंगोत्तरी, महताबराय की पत्नी, एक तरफ बैठी थी। इस सारी बात-चीत में वह बिलकुल न बोली थी। मगर अब वह चुप न रह सकी। ननद की ओर तीखी आँखों से देखकर बोली—"तुम ऐसी-ऐसी बातें क्यों करती हो ? देखती नहीं, कैसी बीमारी से उठे हैं। इस तरह क्रोध करेंगे, तो फिर बीमार हो जायँगे। एक बार कह दिया, प्रतिज्ञा की, अब तुम्हें विश्वास ही नहीं आता। बहुत बोलने से सिर दर्द होने लगेगा।"

किशोरी के हृदय में तीर सा लगा। झल्लाकर बोली—"आप दो-दो घंटे बातें करती रहती हो, तब सिर-दर्द नहीं होता। मेरी दो बातों से सिर-दर्द होने लगेगा। बहुत अच्छा भाभी ! मैं अब न बोलूँगी, बोलूँ तो जीभ काट लेना। अब खुश हुई तुम ?"

गंगोत्तरी को अपनी भूल मालूम हुई।

"तुम तो यों ही बुरा मानती हो।"

"सिर फिरा हुआ है न मेरा।"

"अब बात करना भी अपराध हो गया।"

"मैं बाहर चली जाती हूँ, नहीं तो फिर सिर-दर्द होने लगेगा तुम्हारे पति का।"

यह कहकर किशोरी बाहर निकल गई। बाहर तारा खड़ी थी। उसने किशोरी का हाथ पकड़ कर पूछा—"क्यों कुछ नाराज़ मालूम होती हो, क्या बात है?"

इतने में गंगोत्तरी बाहर आ गई; और बालकों की तरह किशोरी के गले में भुजायें डालकर बोली—"तुम रूठी जाती हो। मगर मैं न रूठने दूँगी तुम्हें। चलो।"

किशोरी का क्रोध उतर गया; मगर उसने मुँह फुलाकर जवाब दिया—"मैंने कान पकड़े। अब उस कमरे में ज़बान न खोलूँगी। नहीं तो फिर सिर में दर्द शुरू हो जायगा।"

पास से कोई आदमी जा रहा था। उसे देखकर गंगोत्तरी ने मुँह पर घूँघट खींच लिया। मगर जब वह चला गया, तो किशोरी के गले से फिर लिपट गई, और बोली—"तुम मुँह न खोलना, मैं आप खोल लूँगी।"

यह कहकर गंगोत्तरी ने किशोरी के मुँह में उँगली डालकर उसकी जीभ पकड़ ली, और हँसने लगी। तारा की आँखों में आँसू आ गये। कैसा प्यार है, कैसी बच्चों की-सी पवित्र चंचलता, कैसी सादगी; एक-एक अदा प्रेम के रस में सनी हुई थी। तारा सोचने लगी—क्या इस प्रेम के सरोवर से उसे एक भी घूँट न मिलेगा?

(४)

एकाएक गंगोत्तरी ने चौंक कर सिर उठाया, जैसे किसी को कोई भूली हुई बात याद आ जाती है, और किशोरी का हाथ पकड़कर कहा—"चलो, तुम्हें बुला रहे हैं।

इशारा महताबराय की तरफ था। किशोरी अब न रुक सकी। प्रेम के पैरों में ज़ंजीरें किसने डाली हैं। वह जल्दी-जल्दी महताबराय

के कमरे की ओर रवाना हुई। तारा ने रास्ता रोककर पूछा—"मेरा काम ?"

"अब इसी का ज़िक्र करूँगी। तुम ज़रा चिन्ता न करो।"

तारा ने पूछा—"हो जायगा ? तुम्हें आशा है ?"

गंगोत्तरी ने उत्तर दिया—"कमेटी के मेंबर हैं। कौंसिलों में जाते हैं। कई पाठशालाओं के सभापति हैं। क्या तुम्हारा इतना-सा काम भी न कर सकेंगे ?"

मगर तारा के हृदय में जैसे कोई कह रहा था कि उसका यह काम न हो सकेगा। उसके पास रुपये की कमी न थी। वह अगर चाहती, तो सारी आयु सुख से व्यतीत कर देती। मगर वह उस रुपये को किसी अपने काम में लाना नहीं चाहती थी। वह अब उसकी आँखों में खटकने लगा था। सोचती थी, पाप की कमाई है, इससे उसका भला न होगा। वह अब अपनी मेहनत की कमाई खाना चाहती थी। उसने किशोरी और गंगोत्तरी से कई बार कहा था, मुझे किसी पाठशाला में सिलाई का काम सिखाने पर नौकर करा दो, मैं इसी से पेट भर लूँगी और यदि यह भी न हो, तो अपने यहाँ बर्तन साफ़ करने पर रख लो। यह मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो जायगा। गंगोत्तरी कहती, लड़कियों के लिए बाजा सिखाने का स्कूल खोल लो। मगर तारा उत्तर देती, यह न होगा। जब इस काम को छोड़ दूँगी, तो बाजा-तबला भी साथ ही छोड़ दूँगी। जब गाँव छोड़ा, तो गाँव का रास्ता भी छोड़ना होगा।

हृदय की बात हृदय में गड़ जाती है। किशोरी और गंगोत्तरी, दोनों पर असर हो गया। उन्हें विश्वास हो गया कि तारा सन्मार्ग पर चलने के लिए अधीर हो रही है। उसकी सहायता को दोनों तैयार हो गईं।

महताबराय ने किशोरी को कमरे में आते देख कर करवट बदल ली, और पूछा—"बताओ, मुझे क्या करना होगा ? मैं उसकी सहायता को सब तरह से तैयार हूँ।"

किशोरी पलँग के पास भूमि पर बैठ गई, और धीरे से बोली—"पहले यह सोच लो, कि वह वेश्या है।"

महताबराय पलँग से उछल पड़े, जैसे कोई अनहोनी बात सुनकर उछलता है। मुख पर व्याकुलता-सी झलकती थी। इस वाक्य ने उनके शान्त हृदय में हलचल मचा दी। वह चारों ओर इस तरह देखने लगे, जैसे उनसे कोई अपराध हो गया हो, जैसे किसी ने उनका अपमान कर दिया हो, जैसे किसी ने उन्हें गाली दे दी हो। उनका मुँह लाल हो गया।

किशोरी ने फिर कहा—"वह वेश्या है। मगर अब यह कुकर्म छोड़ना चाहती है। उसे कहीं नौकरी दिला दो, किसी पाठशाला में, अस्पताल में, आश्रम में। वह कम-से-कम वेतन में निर्वाह कर लेगी। मगर वह नेक बनना चाहती है। पाप से उसे घृणा हो गई है। उसको सहारा दो, वह अबला है।"

"मगर वह वेश्या है!"

"दिन-रात उदास रहती है। उसका कहीं ठिकाना बना दो। सारी मर आसीस देती रहेगी।"

"रुपये देने से काम न चल सकेगा?"

किशोरी ने स्वाभाविक कटाक्ष से सिर हिला कर कहा—"नहीं, वह अपने हाथ की कमाई खाना चाहती है।"

महताबराय किसी गहरी चिन्ता में डूब गये। थोड़ी देर के बाद उन्होंने ठंडी साँस भर कर कहा—"बहुत कठिन है।"

किशोरी को यह आशा न थी कि महताबराय ऐसी चिन्ता में पड़ जायँगे; मिन्नतें करती हुई बोली—"यह काम तो तुम्हें करना ही होगा। जबसे तुम्हारा आपरेशन हुआ है, दिन-दिन भर यहीं बैठी रहती है। उसका चेहरा पहले से आधा भी नहीं रहा। रंग बदल गया, रूप बदल गया, तबीयत बदल गई।"

महताबराय के दिल पर दूसरा चरका लगा—"दिन दिन-भर बैठी रहती है यहाँ?"

"लाला घनश्यामदास आये हैं।"

"कह दो, इस वक्त तबियत ख़राब है।"

नायका हैरान रह गई। उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। घनश्यामदास बनारस के प्रसिद्ध रईस राय साहब परमेश्वरीदास का बेटा था। बड़ा ही सुन्दर और सुडौल। उसका रूप देखकर भूख मिटती थी। जब तक राय साहब जीते थे, तब तक उनकी देख-रेख होती थी। मगर उनकी मृत्यु ने घनश्यामदास के पर खोल दिये। अब उसे कोई रोकनेवाला न था। दालमंडी में आना-जाना शुरू हुआ। सुन्दरता के मोती परखे जाने लगे। उसकी प्रकृति में पाप था, आँखों में लालसा। दालमंडी की रंडियों में हलचल मच गई। उनमें से हर एक यही चाहती थी कि किसी प्रकार यह कबूतर फँस जाय। तारा ने भी हाव-भाव और कटाक्षों के जाल बिछा दिये। घनश्यामदास के गुज़रने का समय होता, तो विशेष रूप से सज-सजाकर छज्जे पर आ बैठती। आँखें चार होतीं, तो मुस्कराती और नयनों के तीर चलाती। सोचती, वह दिन कब आयेगा, जब यह मतवाला साहूकार मेरी सीढ़ियों पर पैर रक्खेगा। और आज वह उसके मकान पर था। आज उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई थी। आज उसके भाग जागे थे।

मगर इससे तारा को प्रसन्नता न हुई। दूसरा समय होता, तो वह आनन्द से पागल हो जाती; मगर अब उसका हृदय बदल चुका था। उसने ठंडी साँस भरी, और निश्चयात्मक रूप से बोली—"कह दो इस वक्त तबियत ख़राब है।"

नायक ने समझा, शायद तारा पागल हो गई है। उसने उसे समझाने की चेष्टा की। परन्तु तारा ने हाथ के इशारे से उसे चुप कर दिया, और फिर चुपचाप रोने लगी। नायका चली गई—रुपया चला गया—उसका भाग चला गया। मगर तारा को परवा न थी, पर वह रो रही थी।

उधर किशोरी और गंगोत्तरी में लड़ाई हो रही थी—"महताबराय

ने अच्छा नहीं किया, बेचारी का दिल तोड़ दिया। लाख बुरी हो, परन्तु नेक बनकर रहे, तो क्या बुरा है।"

गंगोत्तरी कहती थी—"जानती नहीं हो, दूर-दूर तक इनका नाम है। और काशी के लोग तो इन्हें देवता समझते हैं। वह क्या कहेंगे? तुम क्या चाहती हो, एक वेश्या के लिए बदनाम हो जायँ? और उसके मन की कौन कहे—'जप-तप करने चली बिलैया नौ-सौ चूहे खाय के।' सारी आयु कोयलों में खेलती रही, आज साबुन का शौक़ चर्राया है। मगर इस स्याही को साबुन क्या धोयेगा?"

किशोरी पूछती थी—"यह उसके उपकार का बदला है शायद?"

गंगोत्तरी उत्तर देती थी—"रुपये चाहे, तो हजारों ले ले, पर मान-प्रतिष्ठा तो न देंगे।"

किशोरी कहती थी—"उसे रुपयों की ज़रूरत ही कब है? वह तो उनसे हाथ पकड़ने की सहायता चाहती थी। मगर पता लग गया; उनमें जरा भी साहस नहीं। केवल समाचारपत्र पढ़ना जानते हैं। काम का समय आया, तो बैठ गये।"

हम इतना बुराई से नहीं डरते, जितना बदनामी से डरते हैं। बदनामी का डर न हो, तो संसार में पापों की संख्या कई गुनी बढ़ जाय। मगर जहाँ बहुत-से लोग बदनामी के विचार से नेक बनने पर बाध्य हैं, वहाँ कई लोग बदनामी के डर से घोरतर पाप करने को भी तैयार हो जाते हैं। लाला महताबराय मूर्ख न थे। वह जानते थे कि तारा का हृदय नेकी की ओर झुका हुआ है। वह यह भी चाहते थे कि तारा सन्मार्ग में जीवन व्यतीत करे। वह यह भी चाहते थे कि उसकी सहायता करें। परन्तु इसके लिए वह थोड़ा-सा त्याग न कर सकते थे। अपने लिए पाप करते थे; मगर तारा के हित के लिए भलाई करना भी कठिन हो गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने दरवाजे पर फिर तारा का निराश मुख देखा; और फिर अपनी बहन से उसी तरह कहा—"किशोरी, लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे। वह वेश्या है, हम शरीफ़ हैं, हमारा उसका क्या मेल?"

(६)

तारा को विश्वास हो गया कि इनसे मेरी सहायता न हो सकेगी। जिनको मैं जल की तरंगें समझती थी, वह जलता हुआ रेतीला मैदान है। ओस से प्यास नहीं बुझ सकती। तारा की आँखें सजल हो गईं। वह गाड़ी में बैठकर अपने मकान को चली गई, मगर उसके विचार न बदले। वह अब भी अपना घृणित पेशा छोड़ने पर तुली हुई थी। अब उसे न गाने-बजाने का शौक़ था, न हँसने-खेलने का। यौवन की उमंगों के स्थान पर वैराग्य और निराशा छाई हुई थी। आँखों से आँसू गिरते रहते थे। न वस्त्र बदलती थी, न गहने पहनती थी, न बाल सँवारती थी। स्त्री का गर्व उसका रूप का है, रूप-गर्व उसका शृंगार है। तारा ने एक साथ दोनों त्याग दिये। यहाँ तक कि पंद्रह दिन बीत गये।

संध्या-समय था। सौंदर्य के बाजार में सौंदर्य के ग्राहक जमा थे। चौबारों में से आँखें झाँकती थीं, उनमें संदेसा था। बाजार से आँखें देखती थीं, उनमें लालसा थी। और इन दोनों के बीच में लज्जा की दीवार खड़ी थी, नहीं तो सौंदर्य और प्रेम का आलिङ्गन हो जाता। परन्तु सौंदर्य इस लज्जा को अपने लगातार हमलों से परे हटाने की चेष्टा कर रहा था। और जब कभी वह सफल हो जाता, तो लज्जा के होंठ नीले हो जाते थे, और प्रेम के प्रवाह में हलचल मच जाती थी, और जोबन मुस्कराता था।

हर एक बैठक पर रौनक थी। हर एक बैठक में प्रकाश था। मगर तारा के मकान पर उदासी छाई हुई थी, जैसे उसके यहाँ कोई मर गया हो। कभी उसके चौबारे में सबसे बढ़कर रौनक़ होती थी। तारा अपने कमरे में बैठी उन दिनों को याद करती थी और ठण्डी साँसें भरती थी। पापों की स्मृति पापों से अधिक भयानक होती है। उसे अब उस मकान से डर लगता था। चाहती थी, इस मकान के सामान को आग लगा दे, और कहीं निकल जाये। फिर विचार आता, कहाँ जाये? क्या उसे कोई भला पुरुष अपनी ड्योढ़ी में पैर भी रखने देगा? आज तक लाल आँखें नहीं देखी, यह अपमान कैसे सहेगी? इस

विचार से वह इस तरह सहम जाती थी, जैसे हिरनी सिंह से। पाप करना इतना कठिन नहीं, जितना उसे छोड़ना। उसके लिए निर्लज्जता की जरूरत है, इसके लिए अचल धैर्य की। मनुष्य निर्लज्ज बन सकता है; मगर धीर बनना सुगम नहीं। अगर आदमी धीर बन सकता, तो संसार संसार न रहता, स्वर्ग बन जाता, आदमी आदमी न रहते, देवता बन जाते।

एकाएक पैर की आहट सुनाई दी। तारा ने सिर उठाया, तो सामने गुलनार खड़ी थी। वह भी वेश्या थी। उसे देखकर तारा की आँखें सजल हो गईं, जिस तरह रोगी किसी संबंधी के आने से रोने लगता है। तारा का मलिन वेष और रूखे बाल देखकर गुलनार के कलेजे में तीर-सा चुभ गया। कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही, फिर बोली—"तारा! यह तुमने क्या हाल बना लिया है अपना?"

तारा ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"परमात्मा करे मेरा अब यही हाल बना रहे।"

"लिबास और ज़ेवर क्या हुए?"

"उन्हें देखकर आग लग जाती है।"

"तुम्हारा मुँह पहले से आधा भी नहीं रहा।"

"स्त्री के लिए मुँह की सुन्दरता ही सब कुछ नहीं।"

"इस वक़्त को पछताओगी। फिर यह हाथ न आयेगा।"

तारा ने एक विचित्र दृष्टि से गुलनार की ओर देखा, और कहा—"मेरा हृदय इस पापमय जीवन से बेज़ार हो गया है।"

"तो यह कहो, अब जोगन बनने का इरादा है!"

"जोगन क्या बनूँगी, नारी बनने की इच्छा है।"

गुलनार ने कुछ सोचा, और फिर पूछा—"मगर यह क्यों? आख़िर हुआ क्या है?"

तारा ने आँखें बन्द कर लीं; मानों किसी भूले हुए मनोहर दृश्य का ध्यान आ गया हो, और कहा—"इसलिए कि अब मैंने पतिव्रता स्त्री, सच्चरित्रा बहन और पुण्यात्मा पति का जीवन देख लिया है। अब मेरी आँखें खुल गई हैं।"

गुलनार ने तारा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"वह कौन-सा पुण्यात्मा पति है, जिसके जीवन ने तुम्हें बदल दिया। ज़रा उसका नाम तो लो, मैंने भी बनारस में ज़िन्दगी गुज़ारी है, उसे ज़रूर देखा होगा। न देखा होगा तो नाम सुना होगा।"

तारा रुक-रुककर बोली—"उनका नाम लाला महताबराय है। बड़े ही भले आदमी हैं।"

गुलनार जोश से केले के पत्ते की तरह काँपती हुई बोली—"कौन महताबराय? कुछ अता-पता बताओ।"

"गाड़ी के नीचे आ गये थे।"

"कलाई पर घड़ी बाँधे रहते हैं?"

"हाँ वही।"

"बड़े अमीर हैं!"

"क्या तुम उन्हें जानती हो?"

गुलनार ने मुस्कराकर मुँह फेर लिया और कहा—"खूब जानती हूँ, मुझसे पुरानी मुलाकात है।"

तारा के कलेजे में जैसे किसी ने भाले की नोक चुभो दी। तड़पकर बोली—"गुलनार! मुझे धोखा न देना।"

"आज रात को मेरे मकान पर आ जाओ, तो आँखों से दिखा दूँ, कि वह कैसा आदमी है।"

"पर मुझे विश्वास नहीं आता।"

"आज रात को आ जायगा। तुम मेरे मकान पर आ जाना।"

(७)

रात को बारह बजे तारा गुलनार के मकान पर पहुँची। इस समय उसका मुख उदास था, आँखें निस्तेज। उसकी दशा उस विद्यार्थी के समान थी, जिसे फ़ेल होने का खटका लगा हो। उसने महताबराय के प्रश्न को अपना प्रश्न बना लिया था। गुलनार ने उसे अपने पास बिठा लिया और पाप के भूले हुए पाठ पढ़ाने लगी;

मगर तारा का ध्यान इस ओर न था। उसके कान बाज़ार की ओर लगे थे और वह उस समय की बाट देख रही थी, जब—

इतने में बाहर किसी गाड़ी की गड़गड़ाहट सुनाई दी और दरवाज़े पर आकर मर गई, जिस तरह हर वेश्या के मकान पर आकर नेकी मर जाती है। गुलनार ने अपने गले का हार ठीक करते हुए तारा से कहा—"उस परदे के पीछे छिप जाओ और अपने शरीफ़-बदमाश का तमाशा देख लो। तुम्हारी तसल्ली हो जायेगी।"

यह कहते-कहते उसने तारा को परदे के पीछे ढकेल दिया।

पैरों की आहट सुनाई दी; तारा के प्राण होंठों तक आ गये। वह घुटनों के बल झुक गई और अपनी आँखों में आँसू भरकर बोली—"परमात्मा करे, यह वह न हों। नहीं तो मुझे जो श्रद्धा समाज और मनुष्यत्व पर है, वह न रहेगी। मेरा सहारा छूट जायगा। मैं सदा-सदा के लिए पाप के बाज़ार में रह जाऊँगी।"

मगर परमात्मा ने उसकी प्रार्थना न सुनी।

को ई आदमी दरवाज़े के अन्दर आया और उसने ऐक्टरों क तरह झुककर कहा—"सरकार—तस्लीम!"

तारा के शरीर से पसीना बहने लगा—यह वही थे।

गुलनार ने भौंह चढ़ाकर उत्तर दिया—"जाइए लाला साहब! इतना ज़माना गुज़र गया, एक पैग़ाम तक न भेजा गया और हम यहाँ तड़पते रहे। ख़ुदा जानता है, अगर आपकी बदनामी का ख़याल न होता, तो पंद्रह दफ़ा अस्पताल आती, पंद्रह दफ़ा।"

लाला महताबराय ने हाथ बाँधे और कहा—"अब यह ग़लती न होगी। इस दफ़ा माफ़ कर दीजिए।"

यह कहते-कहते उन्होंने गुलनार के दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ लिये और उसे अधीरता से अपनी ओर खींचा।

अब तारा न रह सकी। सहसा उसने परदा हटाया और बाहर आकर सामने खड़ी हो गई।

महताबराय सन्नाटे में आ गये। वह कभी गुलनार की ओर

देखते थे, कभी तारा की ओर और वास्तविक मर्म को समझने का यत्न करते थे। गुलनार की हँसी रोके न रुकती थी; मगर तारा की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलती थीं। उसने आगे बढ़कर अपने दोनों हाथ महताबराय के दोनों कंधों पर रख दिये। अपनी आँखें उनकी आँखों में डालीं और कहा—"लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे। वह वेश्या है, हम शरीफ़ हैं, हमारा उसका क्या मेल है?"

महताबराय पर वज्र-पात हुआ। तारा देखते-देखते बाहर निकल गई।

अब वह फिर बदल चुकी थी।

उसने अपने मकान पर पहुँचकर अपना लिबास बदला, आभूषण पहने, बाल सँवारे, मुँह पर फ़ेस-क्रीम मला और फिर शीशे के सामने खड़ी होकर अपना रूप-सौंदर्य देखने लगी और अपनी पुरानी अदाओं से झूमने लगी।

अब वह फिर वही तारा थी। वही दालमंडी की प्रसिद्ध तारा, वही सदाचार और सच्चरित्र की लूटनेवाली तारा, वही सभ्यता की शत्रु तारा। अब फिर उसकी आँखों में वही मद था, मुख पर वही सौंदर्य था, दिल में वही ज़हर था। वह अपने आपको शीशे में देखकर हँसने लगी कि इतने दिनों कैसे मूर्ख बनी रही। इतने में नायिका अंदर आई और इस काया-पलट को देखकर चकित रह गई। उसने धीरे से कहा—"लाला घनश्यामदास आये हैं।"

तारा के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसने अपने सिर के बालों को माथे पर मरोड़ते हुए कहा—"उनसे कहो, तशरीफ़ रक्खें। मैं अभी हाज़िर हुई।"

तारा मुँह में पान रखकर अपने शरीर को निर्लज्जता के कटाक्ष से हिलाती हुई और होंठों पर वेश्याओं की-सी मुस्कराहट लिये हुए उस कमरे के अंदर आई जहाँ लाला घनश्यामदास बैठे उसकी राह देख रहे थे, मानों पाप पाप की राह देख रहा था।

उस रात महताबराय ने सुपने में देखा कि कोई दिव्य ज्योति उनसे कह रही है—'ऐ पापी ! तूने अपनी स्त्री, बहन और माँ के प्रेम को पैरों-तले कुचला है। तूने पराई धरोहर में पाप-बुद्धि की है। तूने अपने आपको, अपने अंतःकरण को अपने परमात्मा की दृष्टि में नीचे गिराया है। तूने अपने आचार को नष्ट कर लिया है। यह सब पाप हैं, मगर ने जो एक पाप-आत्मा को सन्मार्ग की ओर आने से रोका है, और उसे फिर उसी पाप के नरक-कुंड में सड़ने पर बाध्य किया है, यह पाप नहीं, "घोर पाप" है, और तेरा यह पाप कभी माफ़ न होगा।"

महताबराय जागा, इस सुपने पर उसने गौर किया, और करवट बदलकर फिर उसी तरह सो गया।

सेवा-धर्म

(१)

दिवाली की रात थी, पृथ्वी ने आकाश का रूप धारण किया था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, दीपकों के सिवा कुछ दिखाई न देता था, जैसे आकाश के तारों की गिनती न हो। परन्तु यही अमावस की चाँदनी (?) रात है, जब हज़ारों लोभी हाथ-कल्पित ऐश्वर्य्य की लालसा में पड़कर अपनी पूँजी लुटा देते हैं, और फिर अपनी मूर्खता पर बैठे रोते हैं। आदमी परिश्रम नहीं करना चाहता, मगर उसके मीठे फल खाना चाहता है। आशा बुद्धि को धोखा दे जाती है। पूरनचन्द भी इसी मंत्र से मुग्ध हो चुका था, और दिन-रात जुआ खेलता रहता था। दिवाली के दिनों में तो उसे खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। उसे विश्वास हो गया था कि किसी न किसी दिन भाग्य चमकेगा, और लक्ष्मी प्रसन्न होगी। आशा बार बार निराशा का रूप धारण करती थी, परन्तु पूरनचन्द हार नहीं मानता था, और भाग्य के भरोसे बराबर पाँसा फेंकता रहता था। वह एक दफ्तर में ख़ज़ानची था। दिवाली निकट आई, तो दफ्तर से ग़ायब रहने लगा। मगर महीने के अन्तिम दिनों में दफ़्तर जाना आवश्यक हो गया। स्टाफ़ के वेतन का बिल बनाना था। दैवयोग से दिवाली पहली नवम्बर को थी। ३१ अक्टूबर को वेतन बाँटने के लिए रुपया आया, पर पूरे चार बजे। क्लर्क घर जा चुके थे। वेतन उस दिन बाँटा न जा सका। पूरनचन्द ने अपना वेतन उसी दिन ले लिया और झूमता-झामता घर को चला। दिवाली की रात की सामग्री मिल गई थी। रात को जब लक्ष्मी-पूजा हो चुकी तब वह दीपमाला देखने के बहाने घर से चला और जुए के अड्डे पर जा पहुँचा। वहाँ उसका दुर्भाग्य पहले ही से खड़ा उसकी राह देख रहा था। जाते ही सब कुछ हार गया। अब उसकी दशा उस

पंछी के समान थी जो उड़ने से पहले ही परकटा हो चुका हो। उस समय उसकी बेबसी कैसी करुणामय' कितनी हृदयद्रावक, और निराशाजनक होती है। वह उड़ना चाहता है, मगर अपने कटे हुए परों को देखकर ठण्डी आह भरता है और तड़पकर रह जाता है। पूरनचन्द को ऐसा मालूम हुआ, जैसे दिवाली की रात के साथ ही उसका सौभाग्य भी चला जा रहा है। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, मगर कहीं से रुपया मिलने की आशा न थी। सहसा उसके हृदय में एक विचार आया। आशा सामने खड़ी दिखाई दी—स्टाफ़ के वेतन का रुपया दफ़्तर में पड़ा था—और वह ख़ज़ानची था—और वह रुपया ला सकता था।

पूरनचन्द पर नशा सा छा गया। वह उड़ता हुआ दफ़्तर की ओर चला। रात के दस बज चुके थे, दीपमाला के वसन्त में शिशिर के चिह्न दिखाई देने लगे थे। बाज़ारों की रौनक़ कम हो रही थी। मगर पूरनचन्द की आँखें इस तरफ़ से बन्द थीं। वह इस तरह भागता चला जा रहा था, जैसे किसी बीमार के लिए कोई डाक्टर को बुलाने जा रहा हो। दफ़्तर में पहुँचा तो चौकीदार दिखाई दिया। पूरनचन्द का हृदय सहम गया। चौकीदार ने पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, गङ्गादीन! कहो क्या हाल है?"

गंगादीन ने स्वर से तुरन्त पहचान लिया, और आगे बढ़कर बोला—"आइए बाबू साहब! बाज़ार में तो ख़ूब रौनक़ हो रही है। आप यहाँ कैसे भूल पड़े?"

पूरनचन्द का कलेजा धड़क रहा था, मगर जीभ पूरी पूरी बस में थी, हँसकर बोला—"कुछ काग़ज़ भूल गया था। ज़रा दरवाज़ा खोल दे, तो देख लूँ। हमें आज भी काम नहीं छोड़ता।"

गङ्गादीन ने दरवाज़ा खोल दिया। यदि कोई और होता, तो वह कभी दरवाज़ा न खोलता। मगर पूरनचन्द ख़ज़ानची था, उसकी बात कैसे टलता। कई बार एडवान्स की आवश्यकता आ पड़ती थी। पूरनचन्द कमरे में पहुँचा और रोशनी करके मेज़ के सामने बैठ गया।

इस समय उसका मन ऐसा घबराया हुआ था, जैसे कबूतर बाज़ के पंजे में फँस गया हो। बार बार विचार आता था कि यह कुकर्म मुझे नष्ट कर देगा। मगर इस अन्धकार में आशा का प्यारा चेहरा भी कभी कभी दिखाई दे जाता था। सरस्वती और लक्ष्मी का यह संग्राम कुछ देर जारी रहा। अन्त में लक्ष्मी का जादू चल गया। उसने सेफ़ खोलकर चार सौ रुपये के नोट जेब में डाल लिये और कमरा बन्द करके बाहर निकल आया। इस समय उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे सफलता की एक सीढ़ी चढ़ आया है, यद्यपि उसका एक एक पद उसे विनाश की ओर ले जा रहा था।

थोड़ी देर बाद पूरनचन्द फिर उसी जुए के अड्डे में जा पहुँचा जहाँ भाग्य फूटता है और बुरे दिन हँसते हैं। आशा रास्ता दिखा रही थी, मगर दुर्भाग्य ओट में खड़ा मुस्कराता था। पूरनचन्द ने फिर दाँव लगाये और फिर सब कुछ हार गया। अब यह आशा का नाटक न था, नैराश्य-लीला थी। सरस्वती के बाद लक्ष्मी भी विदा हो गई। अब चारों ओर अँधेरा था। परन्तु उस अँधेरे से अधिक डरावनी वह उषाकाल की सफ़ेदी थी जो धीरे धीरे निकट आती जाती थी। इस सफ़ेदी से पूरनचन्द इतना भयभीत था कि उसकी कल्पना ही से उसकी आत्मा काँप जाती थी। सोचता था, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि कल सबेरे सूरज ही न निकले। न दिन चढ़े, न उसका पाप प्रकाश में आये। परन्तु यह कैसे हो सकता था? पूरनचन्द घर पहुँचा। इस समय उसके पैर ऐसे लड़खड़ा रहे थे, जैसे किसी ने शराब पी हो। उसके पिता रायसाहब सुरजनमल अमीर आदमी थे, परन्तु उनकी कंजूसी सारे नगर में प्रसिद्ध थी। पूरनचन्द को कई बार विचार आया कि चलकर उनके सामने सारी बात खोल दूँ, तो वे मेरे लिए चार सौ रुपये का मुँह न देखेंगे। परन्तु फिर विचार आता कि यह नहीं होगा। ऐसे भाग्य होते तो वे मुझे कोई कारखाना न खोला देते। बेकार शरमिंदा हूँगा। कोई और उपाय सोचना चाहिए। अब उसे समझ आ गई थी; आशा कोई नया धोखा न दे सकी। उसने सारी

रात आँखों में काट दी। सबेरा होते होते उसका धैर्य्य कुछ बँध चुका था। एक पाप पर परदा डालने के लिए नये पाप की तैयारी हो रही थी। उस समय उसकी आँखें अपने नौकर रौनकी पर लगी थीं। सोचता था, शायद यही लकड़ी का कमज़ोर तख्ता नाव का काम दे जाये।

(२)

रायसाहब सुरजनमल के तीन नौकर थे। उनमें रौनकी सबसे पुराना था। उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग रायसाहब ही की सेवा में व्यतीत किया था। आदमी अक्खड़ था, बोलता तो ऐसा जान पड़ता, मानों लड़ रहा है। काम से भी जहाँ तक हो सकता, कतरा जाता था। हाँ, दूसरे नौकरों को डाँट-डपट करना खूब जानता था। और वह इस काम को ऐसी सख़्ती से करता कि नौकर बिलबिला उठते थे। रौनकी के इस दुर्व्यवहार के विरुद्ध नौकर प्रायः रायसाहब के सामने रोते रहते थे, परन्तु वे रौनकी ही का पक्ष लेकर उन्हें फटकार देते थे। इससे रौनकी का चेहरा खिल जाता था। अकड़कर कहता—"मेरा तुमने क्या बिगाड़ लिया।"

परन्तु रौनकी में कोई गुण न हो, यह बात न थी। वह स्वामी के लिए प्राण तक देने को तैयार रहता था। रायसाहब को उसपर रुपये पैसे के मामले में पूरा पूरा विश्वास था। उनको इस बात का निश्चय हो गया था कि रौनकी मरता मर जायगा, पर एक पाई भी इधर-उधर नहीं करेगा। कई अवसर ऐसे आये जब रौनकी चाहता, तो सैकड़ों रुपये उड़ा सकता था। माया ने सुनहरा जाल बिछाया, परन्तु रौनकी ने अपने मन को डाँवाडोल नहीं होने दिया। वह पराये रुपये को मिट्टी के समान समझता था। रौनकी के इस गुण ने उसके सारे अवगुणों पर परदा डाल दिया था। रायसाहब उसपर लट्टू थे, उसकी बात सुनते थे, उसपर विश्वास करते थे।

(३)

दिवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल रौनकी अपने कमरे में बैठा गुड़-गुड़ी पी रहा था, और आँखें बन्द किये किसी गहरे विचार में मग्न

था। इतने में पूरनचन्द भागा भागा अन्दर आया और बोला, "रौनकी! मुझे बचा लो।"

आवाज़ में करुणा भरी थी, शब्दों में घबराहट। रौनकी के हाथ से गुड़गुड़ी छूट गई। उसे पूरनचन्द से असीम प्रेम था। उसने उसे गोदी में खिलाया था। वह रात के समय प्रायः बेसुध पड़ा सोता रहता था। मगर जब कभी पूरनचन्द बीमार हो जाता तब वह सारी सारी रात उसके सिरहाने बैठकर रात काट देता था। कई आदमियों ने उसे अधिक वेतन पर अपने यहाँ ले जाना चाहा, परन्तु पूरनचन्द के विचार से वह कहीं न गया। प्रेम ने पैरों में ज़ंजीर डाल दी थी। उसका कोई बच्चा न था। वह पूरनचन्द से पुत्र के समान स्नेह करता था। जिस तरह वन के वृक्ष को जल देनेवाला उस वृक्ष की शाखाओं और डालियों से भी प्यार करने लगता है, उसी तरह रौनकी पूरनचन्द और उसके भविष्य को प्यार करने लगा था। जब उसे आयु में बड़ा होते देखता तब उसका हृदय हर्ष से फूल उठता था। मानो वह उसका नौकर नहीं, पिता था। वह जब कभी एकान्त में बैठता, तो पूरनचन्द ही के विषय में सोचता रहता था। वह इस समय भी उसी के विचार में मग्न था। सोचता यह था कि रायसाहब अब क्यों नहीं उसका ब्याह कर देते। रायसाहब की दूरदर्शिता उसके लिए कृपणता थी, और वह उस कृपणता पर झुँझलाता था। एकाएक पूरनचन्द को कमरे में आते देखकर उसका कलेजा हिल गया। घबराकर बोला—"क्यों सरकार! मामला क्या है?"

(४)

यह कहते कहते रौनकी ने कोने में पड़ी हुई लाठी उठा ली, और इस तरह तैयार हो गया, जैसे पूरनचन्द के पीछे कोई भयानक डाकू आ रहा हो। पूरनचन्द के परेशान चेहरे पर एक क्षण के लिए हँसी की रेखा आ गई, जैसे रात को काले आकाश में जुगनू चमक जाता है। इसके बाद उसने ठण्डी साँस भरी और कहा—"रौनकी! लाठी रख दो। इसकी आवश्यकता नहीं।"

रौनकी के हृदय से बोझ-सा उतर गया। लाठी रखते हुए बोला—"तो सरकार! ऐसी कौन आफ़त आई है, जो मुँह सूख गयो है। मैं तो डर गया था। जल्दी कहो, बात क्या है?"

पूरनचन्द ने चारों ओर इस तरह देखा, जैसे चोर चोरी करने से पहले देखता है। उसको डर था कि कहीं कोई मुझे देख न ले। धीरे से बोला—"मेरे सिर पर सचमुच आफ़त ही आ गई है। तुम चाहो, तो मुझे बचा सकते, हो चाहो, तो मौत के मुँह में फेंक सकते हो। कहो मेरा एक काम करोगे?"

रौनकी ने सीने पर हाथ रखकर उत्तर दिया—"हुज़ूर! हुक्म दें, तो मैं आग में कूद पड़ूँ, हुक्म दें, तो सिर काट दूँ।"

पूरनचन्द का चेहरा चमक उठा। निराशा के अन्धकार में आशा की किरण चमकने लगी। उसने जेब से सोने का एक हार निकाला और रौनकी के हाथ पर रखकर कहा—"इसे बाज़ार ले जाओ और बेच आओ। मुझे अभी रुपये की आवश्यकता है। और मैं खुद बेचना नहीं चाहता।"

रौनकी पर बिजली सी गिर पड़ी। हार देखकर वह इस प्रकार डर गया, जैसे उसे साँप ने सूँघ लिया हो। उसकी जिह्वा बन्द हो गई। दिमाग़ में सहस्रों विचार समा गये। रह-रहकर सोचता था कि पूरनचन्द को ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी है जो हार बेचने तक की नौबत पहुँच गई। और फिर वह कोई निर्धन कङ्गाल नहीं। रायसाहब चाहें तो आधा शहर ख़रीद सकते हैं। उनको हार बेचने की क्या आवश्यकता है। रौनकी समझ गया कि पूरनचन्द यह काम रायसाहब से छिपाकर कर रहा है। मगर चोरी क्यों करता है, इसका कारण न समझ सका। विचार-सागर में चिरकाल तक डुबकियाँ लगाने पर भी उसे किनारा न मिल सका। उसने गम्भरीता से पूरनचन्द की तरफ़ देखा। आँखों में दिल रक्खा हुआ था। पूरनचन्द ने उसे सोच-विचार में निमग्न देखा, तो फिर घबरा गया। आशा की छोटी-सी किरण भी आँखों से ओझल हो गई। अब चारों तरफ फिर अँधेरा था।

रौनकी ने पूछा—"सरकार-मामला क्या है ? ऐसी ज़रूरत क्या हो गई, जो हार बेच रहे हो ? साफ़ साफ़ कहो।"

पूरनचन्द की आँखों में आँसू भर आये। उसने कोई उत्तर न दिया और हार जेब में डालकर वापस चलने लगा। उस समय उसका मुख निराशा और शोक की जीती जागती मूर्ति था। रौनकी के कलेजे पर साँप लोट गया। पीछे दौड़कर बोला—"सरकार! तुमको कितने रुपये की ज़रूरत है ?"

सूखे धानों में पानी पड़ गया। पूरनचन्द ने फिर दिलेर होकर उत्तर दिया,—"चार सौ की।"

"रुपया कब चाहिए ?"

"अभी, इसी वक्त।"

रौनकी के पास कोई छः सौ रुपये रक्खे थे। यह रुपया उसने कई वर्षों में इकट्ठा किया था। वह सारा वेतन घर नहीं भेज दिया करता था। तीन-चार रुपये मासिक बचा रखता था। वह रुपये उसने अपने कमरे के एक कोने में दबा रक्खे थे। रौनकी ने सोचा कि हार लेकर बाज़ार में कहाँ बेचता फिरूँगा। अपने पास से रुपये दे देता हूँ। क्या हर्ज है ? पूरनचन्द का हाथ सदा तो इसी तरह तङ्ग नहीं रहेगा। जब उसके हाथ चार पैसे आयेंगे तो इससे अपना रुपया वापस लेकर हार लौटा दूँगा। इस समय उसका काम चल जायगा। यह सोचकर उसने पूरनचन्द से हार ले लिया और कहा—"अच्छा सरकार! यह काम हो जायेगा।"

पूरनचन्द की जान में जान आई। उसको ऐसा मालूम हुआ, मानों रौनकी उसके लिए नौकर नहीं, देवता है, जो उसे संकट से बचाने आ गया है।

(५)

थोड़ी देर बाद रौनकी ने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया और ज़मीन खोदने लगा। इस समय उसका कलेजा ज़ोर ज़ोर से धड़क

रहा था। उसने चोरी नहीं की थी, कोई पाप, कोई कुचेष्टा नहीं की थी। परन्तु फिर भी उसका हृदय काँप रहा था। वह केवल यह चाहता था कि पूरनचन्द का काम हो जाय, और उसको रायसाहब के सामने अपने अपराध को प्रकट न करना पड़े। यद्यपि वह नितान्त बेसमझ और अनपढ़ था, तो भी उसे विश्वास हो गया था कि अगर पूरनचन्द का यह अपराध, जिसके विषय में वह आप भी अभी तक अन्धकार में था, रायसाहब के सामने प्रकट हो गया, तो पूरनचन्द का भविष्य काला हो जायगा। अजब नहीं, रायसाहब उसे घर से निकाल दें।

इस विचार से उसका ख़ून सूखा जाता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु पूरनचन्द का उदास मुँह देखकर उसका धीरज छूट जाता था। उसने जल्दी जल्दी ज़मीन खोदी, रुपया गिनकर निकाला और ज़मीन को फिर से बराबर कर दिया। इस समय उसके मुख पर फिर वही शान्ति थी। कुछ देर बाद पूरनचन्द फिर निराश और चिन्तित आया और हिचकिचाते हुए बोला—"रौनकी! मेरा काम हुआ या नहीं?"

रौनकी गुड़गुड़ी पी रहा था। उसने मुख से कोई उत्तर न दिया, परन्तु हाथ से अपने सिरहाने की ओर इशारा कर दिया। पूरनचन्द ने रुपया देखा तो मुरदा शरीर में प्राण आ गये। रौनकी की ओर कृतज्ञता से देखता हुआ चला गया।

एकाएक रौनकी चौंक पड़ा, जैसे किसी की कोई बहुमूल्य वस्तु गुम हो जाय। वह ज़मीन पाटते समय हार दबाना भूल गया था। वह झपाटे से अपनी चारपाई के सिरहाने पहुँचा। हार वहीं पड़ा था। सोचने लगा, अब इसे रात को दबाना चाहिए। दिन में किसी को सन्देह भी हो गया, तो लेने के देने पड़ जायँगे। यह निश्चय करके उसने हार कमर में लपेट लिया, और अपने काम में लग गया। परन्तु सारे दिन चिन्ता लगी रही। बार बार कमर टटोलता था, और देखता था, कि हार वहीं है न?

रात को रौनकी ने दरवाज़ा बन्द किया और भूमि खोदने लगा। मगर हाथों में शक्ति न थी। हृदय इस प्रकार धड़क रहा था, जैसे कोई सिपाही पकड़ने आ रहा हो। शरीर वर्षों के रोगी के समान निढाल हो रहा था। यह होनेवाली घटना का पूर्वरूप था, पर रौनकी इसको न जानता हुआ अपने काम में लीन था। उसके हाथ-पैर न चलते थे। परन्तु वह भूमि खोद रहा था। सहसा किसी ने दरवाज़े पर हाथ मारा। रौनकी के मुख से पसीने की बूँदें टपकने लगीं। सरदी के दिन थे, पर उसे पसीना आ रहा था, तथापि उसने साहस से पूछा—"ऐसे वक़्त कौन है?"

"दरवाज़ा खोल दे।"

रौनकी का रङ्ग उड़ गया। वह रायसाहब की आवाज़ थी। शेर की गर्ज सुनकर जो दशा बकरी की होती है वही दशा इस आवाज़ को सुनकर रौनकी की हुई। उसे अपना अपमान आँखों के सामने खड़ा दिखाई दिया। उसने बोलना चाहा, परन्तु कण्ठ से शब्द न निकल सका। रायसाहब ने कड़ककर कहा—"दरवाज़ा खोल दे।"

रौनकी ने लपककर हार को बिस्तर के नीचे छिपा दिया। टिमटिमाता हुआ दीपक बुझा दिया और दरवाज़ा खोला। उस समय उसके पाँव मन मन के भारी हो रहे थे। रायसाहब ने अन्दर आते ही कहा, 'दीपक क्या हुआ?'

रौनकी ने उत्तर दिया—"सरकार! बुझा दियो।"

"अभी तो जल रहा था। बुझा क्यों दिया? जल्दी जलाओ, एक मिनट में।"

रौनकी की शङ्काएँ पक्की होने लगीं, इधर-उधर झाँकने लगा। वह चाहता था कि यह समय टल जाय तो पीछे सैकड़ों उपाय सोचे जा सकते हैं। समय अपराध के छिपाने के लिए सबसे बड़ी सहायता है। मगर रायसाहब ने उसे समय न दिया। जेब से दियासलाई निकालकर स्वयं दीपक जला दिया और भूमि की ओर देखकर बोले—"यह तू क्या कर रहा था इस वक़्त?"

रौनकी ने हाथ बाँधकर उत्तर दिया—"सरकार, जो महीना मिलता है उससे बचा बचा कर किसी वक्त के लिए मैं यहाँ कुछ दाब दिया करता हूँ।"

"परन्तु आज क्या दाबने लगा था? अभी तो महीना भी नहीं मिला तुझे।"

रौनकी का मुँह बन्द हो गया। वह चुपचाप रायसाहब की तरफ़ देखने लगा। रायसाहब ने आगे बढ़कर ज़मीन से मिट्टी हटाई और रुपयों की पोटली देखी। फ़िर बिस्तर हिलाया। उनका विचार था कि कदाचित् रौनकी ने जुआ खेला है, क्योंकि उससे और किसी प्रकार के पाप की उन्हें ज़रा भी आशङ्का नहीं थी। परन्तु उन्हें यह देखकर कैसा आश्चर्य हुआ कि रौनकी के बिस्तर के नीचे हार पड़ा है। वह उसे देखकर सिर से पाँवों तक काँप गये। अगर कोई दूसरा नौकर यही काम करता, तो सम्भव है, रायसाहब उसे क्षमा कर देते। परन्तु रौनकी को रँगे हाथों देखकर उनका रक्त उबलने लगा। उन्होंने अत्यन्त नम्रता से, जो प्रचण्ड क्रोध से भी अधिक भयानक होती है, पूछा—"यह हार कैसे उड़ाया? यह तो अभी थोड़े ही दिन हुए हमने ख़रीदा था।"

रौनकी में चाहे लाखों अवगुण थे, मगर वह चोर न था। इस गुण के लिए रायसाहब प्रायः उसकी प्रशंसा किया करते थे। इस समय उसकी वह सारी कीर्ति मिट्टी में मिलने लगी थी। रौनकी ने सोचा, अब सारी घटना साफ़-साफ़ कह देनी चाहिए। पूरनचन्द रायसाहब का बेटा ही है, उसे खा तो नहीं जायेंगे। यह सोचकर उसने धैर्य्य के साथ सिर ऊँचा किया और हाथ बाँध कर उत्तर दिया—"सरकार! मामला यों है कि... ... ...

इतने में उसकी दृष्टि पूरनचन्द पर गई। वह इस तरह काँप रहा था, जैसे किसी को बुख़ार चढ़ रहा हो। उसने एक विचित्र भाव से रौनकी की ओर देखा, और सिर झुका लिया। रौनकी को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पूरनचन्द ने उसे कहा है—"तुम कमीने ही निकले। मैंने तुम

पर विश्वास किया, परन्तु तुम इसके योग्य न थे! यदि मैं पहले सोचता, तो इस समय इस तरह अपमान न होता। तुम विश्वास के योग्य न थे।"

जिस प्रकार वायु का रुख़ बदलने से पतङ्ग का रुख़ बदल जाता है, उसी प्रकार इस दृष्टि से रौनकी का विचार बदल गया। उसने निश्चय कर लिया कि स्वयं अपमान सह लूँगा, परन्तु पूरनचन्द पर उँगली न उठने दूँगा। यह सोचकर उसने रायसाहब से कहा—"मामला यों है कि मैंने चोरी करी है। अब चाहे फँसा दो, चाह बख्श दो। अब तो भूल हो गई है।"

रायसाहब उसकी चारपाई पर बैठ गये। इस समय उनको ऐसा दुःख हुआ, मानों लाखों की हानि हो गई हो। परन्तु पूरनचन्द मन ही मन में उसकी सराहना कर रहा था। संसार में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो अपने स्वार्थ के लिए दिन-रात झूठ बोलते रहते हैं। परंतु दूसरों के लिए झूठ बोलनेवालों की संख्या कितनी है?

रायसाहब थोड़ी देर चुप रहे, और फिर बोले—"तुम सबेरा होने से पहले-पहल मेरे मकान से निकल जाओ। बस, तुम्हारी यही सज़ा है।"

रौनकी और पूरनचन्द दोनों की आँखों में आँसू आ गये।

(६)

इसके एक वर्ष बाद रायसाहब सुरजनमल का देहान्त हो गया।

अब सारे रुपसे-पैसे का स्वामी पूरनचन्द था। उसने क्रिया-कर्म से निपटकर रौनकी के नाम चार सौ रुपया का मनीआर्डर भिजवा दिया, और साथ ही पत्र लिखा कि तुम तुरन्त मेरे पास आ जाओ। परन्तु एक सप्ताह बाद मनीआर्डर वापस आ गया। साथ ही रौनकी के भाई का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि उसे मरे हुए एक वर्ष हो गया है। वह जबसे आपके यहाँ से आया तबसे वह सदा उदास ही रहा। यह उदासी उसके मुख से मरणकाल तक नहीं गई। ऐसा प्रतीत होता

था, जैसे उसे कोई रोग है! परन्तु क्या रोग है, यह किसी को पता नहीं लग सका। यही रोग उसे खा गया।

पूरनचन्द पर इस पत्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि कई दिन तक रोता रहा। अब उसने जुआ खेलना छोड़ दिया है। उसने रौनकी के नाम पर एक धर्मशाला बनवा दी है। उसमें उसकी मूर्ति रक्खी है। लोग उसकी मूर्खता पर हँसते हैं। परन्तु वह समझता है कि रौनकी के बलिदान के सामने इसकी इतनी भी गणना नहीं है जितनी सूर्य्य के सामने एक तुच्छ परमाणु की हो सकती है। रौनकी स्वामी-भक्त था, पूरनचन्द दास-भक्त है।

अँधेरी दुनिया

(१)

मुझमें और तुममें बहुत फ़र्क है। तुम हजारों चीजें देखते हो, मैं केवल आवाज़ें सुनती हूँ। पृथ्वी, आकाश, बाग़-बगीचे, बादल, चन्द्रमा, तारे यह मेरे लिए ऐसे रहस्य हैं जो कभी न खुलेंगे। पर्वत और खोह में मेरे निकट एक ही भेद है और वह यह कि पर्वत के ऊपर चढ़ते समय दम फूल जाता है, खोह में उतरते समय गिरने का भय लगा रहता है। जब लोग कहते हैं, यह पर्वत कैसा सुन्दर है, वह ख़ोह कैसी भयानक है, तब मैं इन दोनों के अर्थ नहीं समझ सकती। अपने मस्तिष्क पर आत्मा की पूरी शक्ति से ज़ोर डालती हूँ, परन्तु मस्तिष्क काम नहीं करता और मैं सटपटाकर रह जाती हूँ। शस्यश्यामल खेतों की हरियाली, सुनील जल के स्रोतों की सुन्दरता, बच्चों की मनोहरता पुरुष का सौन्दर्य, स्त्री का रूप-लावण्य, इन्द्रधनुष का रङ्ग, काली घटा का जादू, चन्द्रमा की छटा, फूलों का निखार, यह सब शब्द मेरे लिए विस्तृत और अन्धकारमय वायुमण्डल के भिन्न-भिन्न भागों के नाम हैं, इसके सिवा मैं और कुछ न समझ सकती हूँ, न समझती हूँ। मैं अन्धी हूँ, मेरा संसार एक अँधेरा लम्बा सफ़र है और शब्द उसके पड़ाव हैं। जिस तरह कहते हैं, समुद्र में तरंगें उठती हैं और बैठ जाती हैं, उसी तरह मेरी इस अँधेरी दुनिया में अनेक शब्द उठते हैं और मर जाते हैं। मैं शब्द को जानती हूँ, शब्द को पहचानती हूँ; और उन्हीं की सहायता से सौन्दर्य, जीवन और आयु का अनुमान करती हूँ। जब मैं किसी बालक की तोतली बातें सुनती हूँ और जब मेरा मन उन्हें पसन्द करता है तब मैं समझ लेती हूँ कि सुन्दरता इसी मीठी वाणी का नाम है। जब मैं किसी पुरुष को बातें करते पाती हूँ और उसकी बातों में मुझे वह वस्तु प्रतीत होती है जो कभी चन्द्रमा

की चाँदनी में और कभी शीतकाल की धूप में होती है तब मैं तुरन्त जान लेती हूँ कि जवानी इसी को कहते हैं। और जब मैं किसी काँपती हुई आवाज़ को और उसके अन्दर मर मर जाते हुए शब्दों को सुनती हूँ तब मुझे विश्वास हो जाता है कि यह मनुष्य बूढ़ा है और धीरे-धीरे अपने शब्दों की तरह काँप-काँप कर .ख़ुद भी मर रहा है। थोड़े ही दिनों में अपने स्वर के समान स्वयं भी मर जायगा और संसार के लोग जिस तरह उसके जीवनकाल में उसकी आवाज़ की परवा नहीं करते थे, ठीक उसी तरह मरने के बाद उसकी मौत की परवा भी नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, मैं क्रोध और दुःख, भय और आनन्द, प्रेम और दया, आश्चर्य और विस्मय, सब भावों को शब्द से ही पहचान लेती हूँ। मैं अन्धी हूँ—मेरे कान ही मेरी आँखें हैं। तुम देखते हो, और सुनते हो। मैं सिर्फ़ सुनती हूँ। मेरे लिए देखना नहीं है। मेरे लिए देखना मना है।

(२)

मैं पंजाबिन हूँ, मगर मेरा नाम बङ्गालिनों का-सा है। मैंने अपने सिवा किसी दूसरी पंजाबिन लड़की का नाम रजनी नहीं सुना। मेरे पिता उपन्यासों के बहुत शौक़ीन हैं। सुना है, दिन-रात पढ़ते रहते हैं। उन्होंने बँगला का एक उपन्यास रजनी पढ़ा और फिर मुझे भी रजनी के नाम से पुकारने लगे। इसके बाद मेरा नाम यही मशहूर हो गया। वे धनवान् हैं। उन्हें रुपया-पैसा की कमी नहीं। मगर मेरी ओर से प्रायः दुःखी रहते हैं। मैं भागवान् घर में आई, परन्तु अभागिन बनकर। मेरे माता-पिता मुझे देखते ही ठण्डी साँस भरकर चुप हो जाते और देर तक चुपचाप बैठे रहते। मैं जान लेती थी कि इस समय मेरे संसार का अन्धकार उनके हृदय के अन्दर समा गया है और उनकी आँखों के आँसू उनके गालों पर बह रहे हैं। मैं उनका दुःख दूर करना चाहती थी, मगर मेरे किये कुछ होता न था और मेरी बेकसी और मेरी बेबसी मेरे अन्धे मुख पर गरमी और लाली के रूप में प्रकट हो जाती थी।

मैं जवान हुई तो मेरे माता-पिता की चिन्ता बढ़ने लगी। पहले-पहल तो मुझे उनकी चिन्ता का कारण मालूम न था, मगर थोड़े ही दिनों में सब कुछ समझ गई। वह मेरे ब्याह के लिए दुःखी थे। सोचते थे, इस अन्धी लड़की से कौन ब्याह करने को तैयार होगा। यह दुःख उन्हें अन्दर ही अन्दर खाये जाता था। सदा उदास रहते थे। मुझे अपने दुर्भाग्य का पहली बार अनुभव हुआ। इससे पहले मुझे यह कल्पना तक न थी कि विधाता ने मेरी आँखें छीनकर मुझ-पर कोई अत्याचार किया है। मैं अपनी अँधेरी दुनिया में प्रसन्न थी। परन्तु अब सोचती थी, क्या जो परमात्मा अन्धा कर सकता है वह यह नहीं कर सकता कि अन्धे कभी जवान न हों, न उनका शरीर कभी बढ़े-फूले। यदि यह हो जाय तो अन्धे अपने जीवन की भया-नकतर विपत्तियों से बच जायँ और उन्हें अपने दुर्भाग्य पर दुःख और क्रोध प्रकट करने की आवश्यकता कभी प्रतीत न हो। मैंने अपने कमरे के दरवाज़े बन्द करके यह प्रार्थना पता नहीं कितनी बार की, परन्तु उसे परमात्मा ने कभी स्वीकार न किया। यहाँ तक कि मैं परमात्मा और परमात्मा की दया दोनों से निराश हो गई और मुझे विश्वास हो गया कि परमात्मा नहीं है, और यदि है तो अत्यचारी, बेपरवा और निठुर है। परन्तु अब यह विचार बदल गये हैं।

मैं सुन्दरी थी। मेरा रूप, मेरा रङ्ग, मेरा आकार सब मन को मोह लेनेवाला था। यह मेरा नहीं मेरी सहेलियों की राय थी। मैं केवल यह जानती थी कि मेरे स्वर में मिठास है। मैं अन्धी हूँ, अपनी तारीफ़ अपने मुख से करना अच्छा नहीं लगता, परन्तु अपना स्वर सुनकर मैं कभी-कभी स्वयं झूमने लग जाती थी। सुना है, हरिण अपनी कस्तूरी की सुगन्ध में पागल होकर उसे ढूँढ़ता फिरता है। मैं भी अपने स्वर की सुन्दरता पर, यदि उसे सुन्दरता कहा जा सकता हो, मोहित थी। मैं उसे छूना, हाथों से पकड़ना, दिल से लगाना चाहती थी। मगर मेरी यह मनोकामना न पूरी हो सकती थी, न होती थी। मैं सुन्दरी थी। मेरा स्वर मीठा था। परन्तु अन्धी की

सुन्दरता देखनेवाला कोई न था। यह विचार मेरी अपेक्षा मेरे माता-पिता के लिए अधिक दुःखदायी था। जब कभी अकेले होते, मेरे दुर्भाग्य की चर्चा छिड़ जाती। कहते, यह उत्पन्न ही क्यों हुई, और जो हुई थी तो बचपन ही में मर क्यों न गई। अब जवान हुई है, वर नहीं मिलता। रूप-रङ्ग देखकर भूख मिटती है, परन्तु आँखों के अभाव ने सारा काम बिगाड़ दिया। अब क्या करें, परमात्मा ही है जो बिगड़ी बन जाय, और तो कोई उपाय नहीं है।

यह बातें सुनकर मेरे कलेजे में आग-सी लग जाती थी। और आँखों में पानी आ जाता था।

(३)

सायङ्काल था। मैं अपने कमरे में बैठी अपने भाग्य को रो रही थी। एकाएक ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कमरे में आ गया है। यह मेरे पिता न थे, न मा थी, न नौकर। मैं उन सबके पैरों की चाप को पहचानती थी। यह पैर मेरे कानों के लिए नये थे। मैंने सिर का कपड़ा सँभालकर पूछा—

"कौन है?"

किसी ने उत्तर दिया—"मैं"

मैं चौंक पड़ी। मेरे शरीर में एक सनसनी सी दौड़ गई। यह-लाला कर्त्ताराम बैरिस्टर के सुपुत्र लाला सीताराम थे। कुछ दिन पहले हमारे यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। उनसे और मेरे पिताजी से बहुत प्यार था। घर की-सी बात थी। उनके रूप-रङ्ग के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकती हूँ। हाँ, उनकी आवाज़ बहुत सुकोमल और रसीली थी। वे जब बोलते थे तो मैं तन्मय हो जाती थी। जी चाहता था, उन्हीं की बातें सुनती रहूँ। उनमें दिल को खींच लेने की शक्ति थी। मुझे वे दिन कभी न भूलेंगे जब वे नेम से हमारे घर आते और केवल मेरी बातें किया करते थे। उनकी इच्छा थी और इस इच्छा को उन्होंने कई बार प्रकट भी कर दिया था कि रजनी का ब्याह जल्दी कर देना चाहिए। मेरे पिता कहते, मगर उसे ब्याहना स्वीकार कौन

करेगा ? यह सुनकर वे चुप हो जाते। फिर थोड़ी देर पीछे ठण्डी साँस भरते और तब उनके उठकर टहलने की आहट सुनाई देती। इस समय वे कैसे व्याकुल, कितने उदासीन होते थे, यह मैं अन्धी भी समझ जाती थी। उनकी इन सहानुभूतियों ने मेरे हृदय-पट पर कृतज्ञता का भाव अङ्कित कर दिया। मैं उनके आने की बाट देखती रहती थी। यदि न आते तो उदास हो जाती थी। खाने-पीने की सुध न रहती थी। इसी तरह छः महीने निकल गये। इसके बाद उन्होंने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया और आज पूरे एक साल बाद आये। मैं बैठी थी, खड़ी हो गई। इस समय मेरे शरीर का रोम-रोम खिल गया था। धीरे से बोली—"इतने समय तक कहाँ रहे ?"

"यहीं था।"

"बड़े कठोर हो। यहीं थे, तो आये क्यों नहीं ?"

कुछ उत्तर न मिला, मेरा कलेजा धड़कने लगा। ख़याल आया, कहीं बुरा न मान गये हो। मैंने क्षमा माँगनी चाही, मगर किसी दैवी शक्ति ने जीभ पकड़ ली। उन्होंने थोड़ी देर ठहर कर कहा—"रजनी !"

मैंने यह शब्द उनके मुँह से सैकड़ों बार सुना था, मगर जो बात इसमें आज थी वह इससे पहले कभी न थी। स्वर काँप रहा था, जैसे सितार के तार हिल रहे हों। उसमें कैसी मिठास थी, कैसी मोहनी और उसके साथ मिली हुई विकलता और प्रेम। मेरे दिल पर जादू-सा छा गया। एक क्षण के लिए मैं भूल गई कि मैं अन्धी हूँ। ऐसा जान पड़ता था कि मैं आकाश में उड़ी जा रही हूँ और मेरे चारों ओर कोई मधुर सङ्गीत अलाप रहा है। यह क्षण कैसा सुखद, कैसा अनमोल था, उसे मैं आज तक नहीं भूल सकी। आठ वर्ष बीत चुके हैं। इस सुदीर्घकाल में कई अवसर ऐसे आये, जब मैंने यह अनुभव किया कि मेरी आत्मा इस आनन्द के बोझ का सहन न कर सकेगी। परन्तु यह अवसर उस एक क्षण के आनन्द के सामने तुच्छ ; जब मुझे यह ख़याल न रहा था कि मैं अन्धी हूँ, और मेरी आँखें

दुनिया की बहार देखने से वञ्चित हैं। सहसा मुझे स्थान, समय और स्थिति का सुबोध हुआ। मैं अपनी लज्जा के बोझ तले दब गई और आत्मा की पूरी शक्ति से केवल एक शब्द कह सकी।

"क्यों ?"

"तुम्हारा ब्याह होगा।"

मेरा मुँह लाल हो गया, जैसे किसी ने तमाचा मार दिया हो। फिर भी साहस से बोली—"मैं अन्धी हूँ। आप यह बात भूल रहे हैं।"

"क्या मतलब ?"

"मेरे साथ कौन ब्याह करेगा ?"

अब सोचती हूँ कि उस समय ये शब्द कैसे कह दिये थे। परन्तु अन्धी के लिए साहस कोई बड़ी बात नहीं। लज्जा आँखों में होती है, और अन्धी न दूसरे को देख सकती है, न यह जान सकती है कि कोई दूसरा उसे देख रहा है। सीताराम कुछ देर चुप रहे। उनकी यह चुप्पी मेरे लिए संसार का सबसे बड़ा दण्ड था। ऐसा जान पड़ता था कि मेरे भाग्य की परीक्षा हो चुकी है और अब परिणाम निकलने को है। मेरे प्राण होंठों तक आ गये। एकाएक वे आगे बढ़े और मेरे सिर पर धीरे से अपना हाथ रखकर बोले—"रजनी ! तुम्हारे साथ मैं ब्याह करूँगा।"

मेरे सिर से बोझ उतर गया। मालूम होता है, दिल के भाव मुँह पर से पढ़े जा सकते हैं। क्योंकि सीताराम ने दूसरे क्षण में मुझे अपने बाहु-पाश में ले लिया और मेरा मुँह प्रेम से बार बार चूमने लगे। मैं घबरा गई। मैं हैरान रह गई। मैं पागल हो गई।

उस रात मुझे नींद न आई। उसका स्थान आनन्द ने ले लिया था। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं अपनी अँधेरी दुनियाँ पर राज कर रही हूँ, और मेरा संसार मेरे प्रेम के अमर संगीत से भरपूर हो चुका है। चारों तरफ़ खुशी थी, चारों तरफ़ रोशनी थी।

एक मास भी न बीतने पाया कि मेरा ब्याह हो गया।

(४)

अब मेरे जीवन का दूसरा परिच्छेद शुरू हुआ। इस समय तक मैं शब्दशाला में बसती थी, अब प्रेम-पुरी में पाँव धरे। वे मुझे चाहते थे। मुझे प्यार करते थे। मेरे बिना रह न सकते थे। प्रायः मेरा हाथ अपने हाथ में ले लेते और मेरी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। कहते, मैंने सैकड़ों युवतियाँ देखी हैं, परन्तु तुम सरीखी सुन्दरी आज तक न देखी है, न देखने की सम्भावना है। मैं पहले-पहल ये बातें सुनकर अपना मुँह हाथों से छिपा लेती थी। मगर धीरे-धीरे यह झिझक दूर हो गई, जैसे हरएक विवाहिता रमणी के लिए इस प्रकार की ठकुर-सुहातियाँ सुनना एक साधारण बात हो जाती है। वे मेरे लिए दर्पण का काम देते थे। मैं अपनी आँखों से नहीं, वरन अपने कानों से उनकी बातों में, अपनी प्रशंसा में अपना रूप-रंग देखकर गर्व से झूमने लग जाती, और समझती कि मुझ-सी सौभाग्यवती स्त्रियाँ संसार में अधिक न होंगी। इस सौभाग्य ने मेरी कई सखियाँ बना दीं। मेरा आँगन हास-विलास से गूँजता रहता था। परन्तु इस हास-विलास के अन्दर, इस मधुर संगीत के नीचे कभी कभी व्याकुलता का अनुभव होने लगता था, जैसे बिल्ली के गुदगुदे पैरों में तीक्ष्ण नख छिपे रहते हैं। मैंने अपनी एक-एक सखी से उसके जीवन के गुप्त रहस्य पूछे और तब मैंने यह तत्त्व समझा कि संसार में प्रत्येक वस्तु वह नहीं जो (दिखाई नहीं प्रत्युत) सुनाई देती है। न संसार में वह अभागा है जिसे प्रायः अभागा समझा जाता है। उनकी बातों ने मेरे सुखमय जीवन को और भी सुखमय बना दिया। वे मुझसे कभी रुष्ट न होते थे, न कभी मुझे बुरा-भला कहते थे। वे इसे मनुष्यत्व से गिरा हुआ समझते थे। सोचते थे, यह ग़रीब मन में क्या कहेगी। मेरे नेत्रों का अभाव मेरे लिए दैवी सुख का कारण बन गया, मेरा काम वे स्वयं करते थे। मैं रोकती तो कहते, "इससे मुझे आनन्द मिलता है। तुम कुछ ख़याल न करो। संसार की सारी स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा करती हैं। अगर एक पति अपनी स्त्री का थोड़ा-सा काम कर देगा तो

संसार में प्रलय न आ जायगा।" उनके पास रुपया था, कई नौकर थे, परन्तु नौकर ज़नाने में न आ सकते थे। रोटी बनाने के लिए एक मिसरानी थी, मेरा जी बहलाने के लिए एक और स्त्री। मगर फिर भी कई काम ऐसे होते हैं, जो गृहिणी को स्वयं ही करने पड़ते हैं। पर मैं अन्धी थी, इसलिए ऐसे काम वे ख़ुद करते थे, और उस समय ऐसे प्रसन्न होते थे जैसे बच्चे को बढ़िया खिलौने मिल गये हों। उनकी दिल-जोईयों ने मुझे उनकी पुजारिन बना दिया। मैं उनकी पूजा करने लगी। सोचती थी, ऐसे आदमी भी संसार में थोड़े होंगे। उन्हें मेरी क्या परवा है। चाहें तो मुझ जैसी बीसियों ख़रीद लें। यह उनके लिए ज़रा भी मुश्किल नहीं। परन्तु वे फिर भी मुझे चाहते हैं, मानों मैं किसी देश की राजकुमारी हूँ। मैं पहले उनसे प्रेम करती थी, फिर उनकी पूजा करने लगी। प्रेम ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया। मेरा जीवन जीवन न था, सुखमय स्वप्न था, जो भय, अधीरता, अशान्ति और दुःख से कभी नष्ट नहीं हुआ था। उनके प्रेम ने मेरी बदनसीबी की त्रुटि पूरी कर दी। वह मेरे अन्धकारमय संसार के दीपक थे, उनकी बातचीत मेरे नीरस जीवन का सरस संगीत। मैं चाहती थी, वे मेरे पास से कहीं उठकर न जायँ। मैं उनके एक-एक पल, एक-एक घड़ी, एक-एक क्षण पर अधिकार जमाना चाहती थी। जब कभी वे आने में थोड़ी सी भी देर कर देते, तो मेरा दम घुटने लगता था, मानों कमरे से हवा निकाल दी गई हो। यह व्याकुलता कैसी जीवनमय है, कैसी प्रेमपूर्ण? इसे साधारण लोग न समझेंगे। इसको केवल वही जान सकते हैं जिनके हृदय को प्रेम के अन्धे देवता भगवान् कामदेव ने फूलों के तीर मार-मारकर घायल कर दिया हो और जिसके घाव ही उसके जीवन की जोत और जवानी हों। इस मज़े को कोई दूसरा क्या समझेगा?

इसी तरह पाँच साल का समय, जिसे प्यार और सुख के जीवन ने बहुत छोटा बना दिया था, बीत गया, और मैं एक बच्चे की माँ बन गई। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। यह बच्चा मेरी और उनकी परस्पर प्रीति की जीती-जागती मूर्ति जिस पर हम दोनों जी-जान था,

से निछावर थे। यह बच्चा (मैंने सुना) बहुत सुन्दर था। मेरी सखियाँ कहती थीं, तुम रजनी (रात्रि) हो, तुम्हारा बेटा सूरज है। इसका रूप मन को मोह लेता है। जो देखता है, प्रसन्न हो जाता है। मैं यह सुनकर फूली न समाती। हृदय में हर्ष की तरंगें उठने लगतीं जिस तरह किसी ने बाजे पर हाथ रख दिया हो। फिर पूछती, इसकी आँखें कैसी हैं। वे जवाब देतीं, बड़ी-बड़ी, हिरन का बच्चा मालूम होता है; परमेश्वर ने माँ की कसर बच्चे की आँखों में निकाल दी है। इसे देखकर कौन कहेगा कि यह किसी नयनहीना का पुत्र है।

स्त्री की कई स्थितियाँ हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमें माँ बनकर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे अपने माता-पिता से प्रेम था, अपने पति पर श्रद्धा थी। उनको देखने के लिए मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। मगर उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुँह चूमते समय, उसकी आँखों पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी। उस समय मैं घबराकर खड़ी हो जाती, और परमात्मा के विरुद्ध सैकड़ों शब्द मुख से निकाल देती। मैं चाहती थी, आह! नहीं बता सकती, कितना चाहती थी कि मेरी आँखें एक क्षण के लिए खुल जायँ और मैं अपने बच्चे को एक नज़र देख लूँ। परन्तु यह इच्छा पूरी न होती थी। मैं अपने दुर्भाग्य को अब अनुभव करने लगी। मगर कुछ बनता न था। मैं व्याकुल रहने लगी।

(५)

धीरे-धीरे मेरी व्याकुलता ने उन्हें भी व्याकुल कर दिया। एक घर में आग लग गई हो तो धुआँ दूसरे घर में भी पहुँच जाता है। वे भी प्रायः उदास रहने लगे। वे मेरे भावों को समझ गये थे। अब उनके स्वर में वह मनोहरता न थी, न शब्दों में वह सरसता थी। बातचीत के ढंग में भी अन्तर आ गया था। बोलते-बोलते चुप हो जाते। हँसते-हँसते उदास हो जाते। निस्सन्देह उस समय यदि मेरे

नेत्रों से अन्धकार का पर्दा उठ जाता, तो मैं उनके पलकों पर आँसुओं की बूँदों के सिवा और कुछ न देखती। एक दिन बाहर से आये, तो घबराये हुए थे। आते ही बोले—"रजनी !"

मैंने धीरे से उत्तर दिया—"जी।"

"तुम कब अन्धी हुई थीं ? मेरा ख़याल है, तुम जन्म से अन्धी नहीं हो।"

"नहीं।"

"तो तुम्हारी आँखें ख़राब हुए कितना समय हुआ ?"

"मैं उस समय तीन साल की थी।"

"तुम्हें अच्छी तरह याद है। तुम्हें विश्वास है ?"

"हाँ। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।"

उन्होंने मुझे खींचकर गले से लगा लिया और बोले—"परमात्मा को धन्यवाद है ! एक बार अन्तिम प्रयत्न करूँगा, और मेरा प्रयत्न सफल होगा।"

आवाज़ से मालूम होता था, जैसे उनके सिर से कोई बोझ उतर गया है। मैंने उनके मुख पर हाथ फेरते हुए पूछा—"बात क्या है ? कैसा प्रयत्न, कैसी सफलता ?"

"मैं चाहता हूँ, तुम्हारी आँखें खुल जायँ, तुम भी संसार के अन्य जीवों के समान देखने लगो। मेरे उस समय के आनन्द का कोई अनुमान नहीं लगा सकता। आह ! यदि ऐसा हो जाय तो—मज़ा ही जाय, आनन्द आ जाय, संसार स्वर्ग बन जाय।"

यह कहते-कहते वे अपने काल्पनिक सुख में निमग्न हो गये। थोड़ी देर के बाद फिर बोले—"डाक्टर कहते हैं कि जन्म के अन्धों के सिवा सबकी आँखें ठीक हो सकती हैं। मगर डाक्टर उस्ताद होना चाहिए। मेरा एक मित्र अमरीका गया था, हाल ही आँखें बनाना सीखकर आया है। थोड़े ही समय में उनके नाम की दूर-दूर तक धूम मच गई है। आज उनसे भेंट हुई। बड़े प्रेम से मिले और बलात् खींच-कर अपने मकान पर ले गये। वहाँ बातचीत में तुम्हारा ज़िक्र आ

गया। बोले—"अगर जन्मान्ध नहीं, तो मैं एक महीने में ठीक कर दूँगा। मेरे पास लाओ, एक बार देख लूँ, तो फिर ठीक-ठीक कहूँ।"

मैं कुछ देर चुप रही और फिर बोली—"रहने दो, मैं अच्छी होकर क्या करूँगी।"

"नहीं, अब मैं अपनी ओर से पूरी-पूरी कोशिश करूँगा।"

"मुझे डर है कि मैं—"

"जब आँखें खुल गईं तो प्रसन्न हो जाओगी।"

"और अगर प्रयत्न निष्फल गया, तो फिर ?"

"भगवान् का नाम लो। उसी के हाथ में सबकी लाज है। इस समय सौ से अधिक अन्धों का इलाज कर चुका है, परन्तु एक के सिवा सब उसके गुण गा रहे हैं। सबकी आँखें खुल गई हैं।"

मैंने धड़कते हुए दिल की धड़कन दबाकर कहा—"ऐसा योग्य आदमी है वह ?"

"योग्य क्या इस युग का धन्वन्तरि है।"

"तो तुम्हें आशा है ? मैं देखने लगूँगी।"

"आशा की क्या बात है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि अब मेरा भाग्य पलटने में देर नहीं।"

मैंने बेटे को हृदय से लगा लिया और रोने लगी। हृदय में विचार-तरंगें उठने लगीं। अब वहाँ निराशा की शान्ति नहीं रही थी, उसका स्थान आशामयी अशान्ति ने ले लिया था। मस्तिष्क में सहस्रों विचार आ रहे थे। उनके, पुत्र के, पृथ्वी-आकाश के, फूलों के, सूरज के, चाँद-तारों के, रूप के विषय में अनुमान के घोड़े दौड़ा रही थी। सोचती थी, आँखें खुल जायँ, तो एक मन्दिर बनवा दूँ, तीर्थ-यात्रा करूँ, गरीब विधवाओं को दान दूँ, और अनाथालयों के नाम चन्दा बाँध दूँ। माता-पिता सुनेंगे, तो दंग रह जायँगे, सहेलियाँ बधाई देने आयँगी, परन्तु इस खुशी में एक बड़ा भोज देना आवश्यक हो जायगा। उनकी कितनी उत्कण्ठा है कि शाम को मुझे साथ लेकर बग्घी पर निकलें, परन्तु नेत्रों का दोष रास्ता रोक लेता है। अगर डाक्टर का परिश्रम

सफल हो जाय। तो हाथों के कड़े उतार दूँ और उसकी पत्नी को बुलाकर रेशमी जोड़ा दूँ। सारी उम्र एहसान न भूलूँ।

मैं डाक्टर के आने की इस तरह प्रतीक्षा करने लगी, जैसे उसके आने के साथ ही मेरी आँखें खुल जायँगी। आशा ने मस्तिष्क को उलझन में डाल दिया था। दूसरे दिन वह डाक्टर को लाने गये, मैं पल गिनने लगी। मगर पल गुज़रते न थे। एकाएक दरवाज़े पर किसी मोटर के आकर रुकने की आवाज़ आई। मेरी देह काँपने लगी। निराशा के विचार ने गला पकड़ लिया। इतने में वे अन्दर आ गये और बोले – "डाक्टर साहब आ गये हैं।"

मैंने साड़ी को सिर पर ठीक कर लिया और सँभलकर हो बैठी, परन्तु हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। डाक्टर साहब मेरी आँखों को देखने लगे। कुछ देर सन्नाटा रहा और तब उन्होंने किलकारी मारकर कहा –"तुम्हें मुबारक हो कि तुम्हारी आँखें बन जायँगी। मुझे पूरा विश्वास है।"

जितना सुख किसी भिखारी को यह सुनकर होता है कि तुम्हें राज मिल जायगा उससे अधिक सुख मुझे डाक्टर साहब के इस वचन से हुआ और मैंने हठात् अपने स्थान से उठकर दोनों हाथ बाँधे और उमँड़ते हुए हार्दिक भावों से काँपती हुई अवाज़ में कहा—

"डाक्टर साहब! आपका यह उपकार उमर भर न भूलेगा। आपको दुआएँ देती रहूँगी।"

उस समय मेरी आवाज़ में प्रार्थना और प्रफुल्लता के वे अंश मिले हुए थे जो केवल अपराधियों की ही आवाज़ में पाये जाते हैं। आँखों के खुल जाने की आशा ने वर्षों की शान्ति और संतोष को इस प्रकार उड़ा दिया था, जैसे किसी सेठ के आने से पहले-पहल मालिक-मकान अपने ग़रीब किरायादार को निठुरता से बाहर निकाल देता है।

(६)

आपरेशन हुआ और बड़ी सफलता से हुआ। वे फूले न समाते थे। कहते थे, अब केवल थोड़े दिनों की बात है, तुम संसार के हर

एक दृश्य को देख सकोगी। मेरा सुख पहले अधूरा था, अब पूरा होगा। मुझसे कहते, तुम्हें इस समय तक पता नहीं और यदि पता है, तो तुम पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकतीं कि आँखों का न होना तुमपर प्रकृति का कैसा अत्याचार था। जरा यह पट्टी खुल जाने दो, फिर पछूँगा। एक दिन के लिए आँखें दुखने लगें और अँधेरे में बैठना पड़े, तो कलेजा घबराने लगता है। जी चाहता है, दरवाज़े, तोड़-कर बाहर निकल जायँ, परन्तु तुम लगातार कई वर्षों से इसी अवस्था में हो और फिर भी चुप हो, हँसती हो, मुस्कराती हो। तुम्हारा कितना कलेजा है, कितना धीरज है।

मैंने अपनी व्याकुलता से भरी हुई प्रसन्नता को छिपाने की चेष्टा करते हुए कहा—"तो क्या मैं देखने लगूँगी? यह आपको निश्चय है?"

"निस्सन्देह, तेरह दिन के बाद।"

"बहुत प्रसन्न हो रहे होंगे?"

"कुछ न पूछो। मेरा एक-एक क्षण साल-साल के बराबर बीत रहा है। मैं झुँझला उठता हूँ कि यह समय शीघ्र क्यों नहीं बीत जाता। मैं तेरहवें दिन के लिए पागल हो रहा हूँ।"

"और यदि यह प्रसन्नता, यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई, तो?"

"यह नहीं हो सकता। यह असम्भव है।"

"आशा प्रायः धोखे दिया करती है।"

"परन्तु यह आशा नहीं है, यह विश्वास है, बल्कि विश्वास से भी बढ़कर।"

सचमुच यह आशा नहीं थी। स्वयं मुझे भी निश्चय था कि यह आशा नहीं है। फिर भी मैंने उनके हृदय की थाह लेने और अपने विश्वास को और दृढ़ करने के विचार से पूछा—"क्यों विश्वास है, बल्कि विश्वास से भी बढ़कर?"

"डाक्टर ने कहा है?"

"परन्तु डाक्टर आदमी है, डाक्टर परमात्मा नहीं है।"

थोड़ी देर के लिए वे चुप हो गये, जैसे आनन्द की कल्पना में

किसी दुःख का विचार आ जाय और फिर मेरे दोनों हाथों को अपने हाथों में दबाकर बोले—"डाक्टर अपनी विद्या में अद्वितीय है। उसका वचन झूठा नहीं हो सकता। मैं इस समय ऐसा प्रसन्न हूँ, जैसे किसी राजा ने इम्पीरियल बैंक के नाम चिक दे दिया हो। अब रुपया मिल जाने में कोई सन्देह नहीं है। केवल तेरहवें दिन की प्रतीक्षा है। न राजा दीवालिया हो सकता है; न डाक्टर का बचन झूठा हो सकता है। तुम यों ही अपने सन्देह से मेरे हृदय को विकल कर रही हो। यह तुम्हारी ज़बरदस्ती है।"

बारह दिन बीत गये। अब केवल एक दिन बाकी था। सोचती थी, कल क्या होगा? कभी आशा हृदय की कली खिला देती थी, कभी निराशा हृदय में हलचल मचा देती थी। मैंने आँखों पर पट्टी बाँधकर बारह दिन बिता दिये थे, अब एक दिन बिताना कठिन हो गया। मुसाफिर पड़ाव के निकट पहुँचकर घबरा जाता है। उस समय उसके हृदय में कैसी उद्विग्नता होती है, कैसी अधीरता। वह घण्टों की राह मिनटों में तय करना चाहता है। बार बार झुँझला उठता है, जैसे किसी ने काँटे चुभो दिये हों। यही दशा मेरी थी। मैं चाहती थी, यह दिन एक क्षण बनकर उड़ जाय और मैं पट्टी आँखों से उतारकर फेंक दूँ। परन्तु प्रकृति के अटल को किसने बदला है। समय ने उसी प्रकार धीरे धीरे अपने मिनटों के पैरों से चलना जारी रक्खा। उसे मेरी क्या परवा थी? उसे किसी की भी परवा न थी।

सायंकाल था। वे कचहरी से वापस आये और सूरजपाल को (यह मेरे बेटे का नाम है।) उठाये हुए कमरे के अन्दर आये और मेरे पास बैठकर बोले—"कल इस समय क्या होगा जानती हो? जानती हो तो बताओ, कितनी ख़ुशी होगी तुम्हें और कितनी ख़ुशी होगी मुझे?"

मैंने हाथ बाँधकर ऊपर की ओर सिर उठाया और कहा—

"परमात्मा दया करे।"

"और वह दया करेगा।"

जैसे ढोलक पर हाथ मारने से गूँज पैदा होती है, उसी तरह इस वाक्य से मेरे हृदय में गूँज पैदा हुई। यह गूँज कैसी प्यारी थी, कैसी आनन्ददायक! इसमें दूर के ढोल का सुहावनापन था, स्वप्न-सगीत का जादू। सोचने लगी, क्या यह सम्मोहिनी निकट पहुँचकर भी ऐसी ही बनी रहेगी, क्या यह जादू जागने के बाद भी स्थिर रहेगा? एका-एक उन्होंने कहा—"कैसी गरमी है। बैठना मुश्किल हो गया।"

मैंने पङ्खे की रस्सी पकड़ ली और कहा—"पङ्खा करूँ?"

कमरे में गरमी कोई इतनी अधिक न थी, परन्तु वे बाहर से आये थे, इसलिए उनका दम घुटने लगा। क्रोध से बोले—"पङ्खा-कुली कहाँ गया। मैं मार-मारकर उसका दम निकाल दूँगा। पाजी कहीं का! पैसा लेता है, काम से जी चुराता है।"

"चलो जाने दो, बेचारा सारा दिन पङ्खा खींचता रहता है। थककर ज़रा बाहर चला गया होगा। खिड़की क्यों न खोल दूँ, सूरज भी घबरा रहा है।"

यह सुनकर वह उछल पड़े, जैसे किसी गठकतरे ने उनकी जेब में हाथ डाल दिया हो, बोले—"क्या कहती हो, खिड़की खोल दूँ? तुम्हें मालूम नहीं कि डाक्टर ने कितना सावधान रहने को कहा है। बार-बार ताकीद करते हैं, कि रोशनी से बचाओ। यह रोशनी आँखों की दुश्मन है, और तुम कहती हो खिड़की खोल दूँ।"

"परन्तु अब तो सायङ्काल हो चुका है। कितने बजे होंगे इस समय?"

"साढ़े छः बज चुके हैं।"

"तो अब क्या हर्ज है? थोड़ी सी खिड़की खोल दो, मेरी आँखों पर पट्टी बँधी है। इसमें क्या हर्ज है?"

उन्होंने बहुत कहा, पर मैंने एक न सुनी और उठकर खिड़की खोल दी। सूरज ने तालियाँ बजाईं और खिल-खिलाकर हँसने लगा। उसकी हँसी देखने के लिए मैं अधीर हो गई, परन्तु आँखों पर पट्टी बँधी थी, और डाक्टर ने मनाही की थी।

इतने में सूरज खिड़की पर चढ़ गया और खेलने लगा। वह इस समय बहुत ही प्रसन्न था। पंछियों की नाईं चहकता था। उसे कोई विचार, कोई भय, कोई चिन्ता न थी।

"सूरज शीशा छोड़ दो, टूट जायगा।"

परन्तु सूरज ने सुना अनसुना कर दिया और शीशे के सामने खड़ा होकर अपना मुँह देखने लगा। एकाएक उसने (मैंने पीछे सुना था) शीशे में इस तरह मुँह बनाकर देखा कि वे सहसा चिल्ला उठे—"ज़रा देखना।"

मुझे अपनी अवस्था का विचार न रहा। मैं भूल गई कि यह समय बड़ा विकट है। मैं अन्धी हूँ, मुझे एक दिन के लिए सन्तोष करना चाहिए। इस समय की थोड़ी-सी असावधानी मेरे सारे जीवन को नाश कर देगी और फिर मेरी आँखों को कोई शक्ति किसी उपाय से भी न खोल सकेगी। मुझे यह विचार न रहा। मैं भूल गई। मैं पागल हो गई। मेरी ऐसी अवस्था आज तक कभी न हुई थी। मेरे हाथ मेरे बस में न रहे। उन्होंने पट्टी को उतारकर भूमि पर फेंक दिया और मैंने अधीर होकर आँखें खोलीं………।

मैं देख सकती थी। मैंने एक ही दृष्टि में उनको, बेटे को और खिड़की में से दिखाई देनेवाले बाहर के बाग़ के एक भाग को देखा, और ख़ुशी से चिल्ला उठी—"मैंने तुमको देख लिया।"

उन्होंने आश्चर्य, भय और प्रसन्नता की मिली-जुली दृष्टि से मेरी ओर देखा। परन्तु अभी मेरी आँखें उनकी आखों से मिलने न पाई थीं, कि चारों ओर फिर अन्धकार छा गया और मेरी अँधेरी दुनिया ने उनकी प्यारी-प्यारी सूरतों को फिर अपने अन्दर छिपा लिया। मैंने ठण्डी आह भरी और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बैंक से रुपया मिल गया था और समय से पहले। परन्तु मेरी असावधानी ने उसे पानी में गिरा दिया। और पानी गहरा था, और उसमें उतरना असम्भव था।

अब मेरे लिए कोई आशा न थी। मैंने उसके द्वार अपने हाथों से बन्द कर लिये थे। कई दिन तक रोती रही। वे मुझे धीरज देते थे।

कहते थे, न सही, तुम जीती रहो, इसी तरह निभ जायगी। मगर इन धीरज की बातों से मुझको सन्तोष न होता था, उलटा मेरे घावों पर नोन छिड़क जाता था। मेरा विचार था कि एक बार आँखें खुल जाने से मैं प्रसन्न हो जाऊँगी, यह झूठ सिद्ध हुआ। एक क्षण की दृष्टि से अपने दुर्भाग्य का दुःखमय अनुभव हो जाता है। इसका अनुमोदन हो गया।

(७)

कहते हैं, हर एक काली घटा के गिर्द सफ़ेद धारी होती है। मेरी विपत्ति अपने साथ एक ज्योति लाई। यह आशा की ज्योति न थी जो कभी बढ़ती है, कभी घट जाती है। यह नैराश्य विश्वास की ज्योति थी, जो सदा बढ़ती है, घटती नहीं। मैं पति और पुत्र दोनों को देख चुकी थी। सुना है, फूल सुन्दर होते हैं। अगर यह सच है, तो मैं कह सकती हूँ कि मैंने क्षण-मात्र की दृष्टि में दो अति सुन्दर फूल देखे हैं और उनसे अच्छी वस्तु देखना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे आज भी मेरी अन्धकारमयी सृष्टि में उसी तरह हरे-भरे और प्रफुल्लित हैं। उनकी सूरतें मेरे हृदय-पट पर अङ्कित हो चुकी हैं और संसार की कोई शक्ति, कोई वस्तु, कोई सत्ता उन्हें न मिटाती है, न मिटा सकती है। यदि मैं अधिक मनुष्य देख लेती। तो कदाचित् मुझे कभी-कभी उनका भी विचार आ जाता और वे भी मेरे हृदय की चित्रशाला में थोड़े से स्थान पर अङ्कित हो जाते। अथवा उनके चेहरों पर मेरे पति और पुत्र के चेहरों की रूप-रेखाएँ अस्त-व्यस्त हो जातीं। परन्तु अब यह आशंका नहीं रही। मैंने बाहर की ओर से आँखें बन्द करके उन दो सुन्दर मूर्तियों को अपने हृदय में अमर जीवन दे दिया है। अब वह अजर हैं, अमर है, अटल हैं। उन्हें वहाँ से कोई नहीं हटा सकता यहाँ तक कि समय का हत्यारा हाथ भी कुछ नहीं कर सकता।

कुछ समय के बाद नगर में चेचक फूट पड़ी। सूरजपाल रोके न रुकता था। दौड़-दौड़कर बाहर चला जाता था। वे कहते थे, इसे बाहर न निकलने दो, यह मेरे जीवन का आधार है, यदि इसे कुछ

हो गया, तो मेरा जीवन नष्ट हो जायगा। परन्तु बन्दर और बच्चे के पैरों में ज़ंजीर किसने डाली है? वह नौकरों की आँख बचाकर निकल जाता और कई-कई घण्टे लड़कों के साथ खेलता रहता था। अन्त में उसे भी इस रोग ने जकड़ लिया। वे घबरा गये। उनपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। दिन-रात पास बैठे रहते थे। उन्होंने कचहरी जाना छोड़ दिया था। कहते थे, परमात्मा करे मैं, इस मुक़द्दमा में जीत जाऊँ। मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरा बच्चा बच जाय। जिस तरह हिरन अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वयं अपने आपको मौत के मुँह में दे देता है, उसी तरह उन्होंने सूरजपाल की ख़ातिर अपना जीवन ख़तरे में डाल दिया। हर समय उसके साथ लेटे रहते थे। परिणाम यह हुआ कि सूरजपाल की सेवा-सुश्रूषा करते-करते आप भी बीमार हो गये। अब मेरे व्याकुल हृदय में तूफ़ान उठने लगे। मेरे पास केवल दो फूल थे। और उन दोनों को प्रकृति का निर्दयी हाथ तोड़ने के पीछे पड़ा था। परन्तु मैंने अपनी जान लड़ा दी और अपने दिखाई देनेवाले समान दिन-रात को उनकी सेवा में एक कर दिया। और परमात्मा ने मुझ अबला के परिश्रम को सफल किया—दोनों निरोग हो गये।

मेरे आनन्द का ठिकाना न था। आँगन में उछलती फिरती थी, जैसे किसी का डूबा हुआ धन मिल जाय। उन्होंने आकर कृतज्ञता के भाव से मेरा हाथ अपने निर्बल हाथ में लिया और धीरे से कहा—"तुमने हमें मृत्यु के मुख से खींचा है, नहीं तो—"

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया और कहा—"बस, बस, बस! इसके आगे एक शब्द भी न कहो। मेरे कान यह सुनने की शक्ति नहीं रखते।"

वे चुप हो गये, परन्तु थोड़ी देर के बाद मुझे मालूम हुआ कि वे रो रहे हैं। मेरे हाथ पर पानी की दो गरम बूँदें टपकीं। मैं हैरान होकर बोली—

"क्यों, रोते क्यों हो? अब तो कोई ख़तरा नहीं।"

यह सुनकर वे सिसकियाँ भर-भर रोने लगे। मैं उनके गले से लिपट गई, जिस तरह सूरजपाल मेरे गले से लिपट जाया करता है। मैंने पूछा—"तुम बताओ, तुम क्यों रो रहे हो ? मेरा कलेजा फट जायगा।"

उन्होंने उत्तर देने की चेष्टा की, मगर उनके हर एक शब्द को उनकी लगातार सिसकियों ने निगल लिया, वे रो रहे थे। जब दुःख का बोझ हलका हुआ और उनकी जिह्वा को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई तब उन्होंने मेरा हाथ अपने मुँह पर रख लिया। और रुक-रुककर कहा—"अगर तुम देख सकतीं, तो तुम्हें ऐसा दृश्य दिखाई देता कि तुम मूर्छित हो जातीं।"

मैं कुछ समझ न सकी, मस्तिष्क पर ज़ोर देते हुए बोली—"तुम्हारा क्या मतलब है। साफ़-साफ़ कहो। मैं कुछ नहीं समझती।"

"मेरी और तुम्हारे सूरजपाल की सूरत ऐसी बदल गई है कि देखकर डर आता है।"

यहकह कर वे चुप हो गये।

मैं बैठी थी, खड़ी हो गई, और चिल्लाकर बोली—"परन्तु मेरी आँखों में जो तुम्हारी सूरतें समा चुकी हैं, उन्हें कौन बदल सकता है। संसार की आँखों में तुम बदल जाओ, पर मेरी आँखों में तुम सदा वैसे ही सुन्दर, वैसे ही मनोहर हो। मैं सोचती थी, परमात्मा ने सरी बार मेरी आँखें छीनकर मुझपर अन्याय किया है। परन्तु आज मालूम हुआ कि इस अन्याय के परदे में उसकी अपार दया छिपी थी। तुम्हारी सुन्दरता मेरे दिल में सदा जीती रहेगी। उसके लिए मौत नहीं है।"

यह कहकर मैंने उनके गले में भुजाएँ डाल दीं और उनके बालों धीरे-धीरे अपनी उँगलियाँ फेरने लगी।

इस समय मेरी अँधेरी दुनिया में ऐसा प्रकाश था, जो बयान नहीं किया जा सकता।

हार की जीत

(१)

मा को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर मिलता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता था। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाक़े में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते थे। अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब, ज़मीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते थे और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति-सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोह-माया को देखकर हैरान परेशान रह जाते थे; कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती, खाना हजम न होता, रात को नींद न आती।

खड्गसिंह उस इलाक़े का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुन-कर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक

दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा, और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"क्या हाल है ?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया से अच्छा हूँ।"

"कहो, इधर कैसे आ गये ?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"अजीब जानवर है। देखोगे, तो ख़ुश हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी तारीफ़ सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज हाज़िर हो गया हूँ। ज़रा दिखाइए ना! हम भी देखें कैसी चीज़ है, जिसकी लोग इतनी तारीफ़ करते हैं।"

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया–घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा–आश्चर्य से। उसने हज़ारों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुज़रा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीज़ों से क्या मतलब ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके बाद हृदय में हलचल होने लगी, बालकों की-सी अधीरता से बोला—"मगर बाबाजी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा ? ज़रा चाल भी दिखा दीजिए।

(२)

बाबाजी भी आदमी ही थे। अपनी चीज़ की तारीफ़ दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोल-बाहर लाये, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक-

कर सवार हो गये, घोड़ा हवा से बातें करने लगा। उसकी चाल देख-कर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु पसन्द आ जाय, उसपर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, और रुपया था, और आदमी थे और बेरहमी थी। जाते-जाते बोला—"बाबाजी! मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। हर समय ज़ालिम, बेरहम, डाकू खड्गसिंह का भय लगा रहता। मगर कई महीने बीत गये, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवा हो गये, और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे कि उन्हें ऐसा अजीब घोड़ा मिला।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबाजी ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या तक़लीफ़ है भाई?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझपर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है, और घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख़ निकल गई—यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था। आज उसने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया और घोड़ा ले गया।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके बाद कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्सिंह ने यह आवाज़ सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा। और जो चाहिए, माँग लीजिए।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने पास जाकर उसकी तरफ ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा क़साई की तरफ़ देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा। मगर खड्गसिंह ! केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ। केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, मगर बाबा भारती ने खुद उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सिर मारा; मगर कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा

भारती के मुँह पर गड़ा दी, और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने जवाब दिया—"लोगों को अगर इस घटना का पता लग गया; तो वे किसी ग़रीब पर विश्वास न करेंगे। दुनिया से विश्वास उठ जायेगा।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की तरफ़ से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई संबन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी तरह गूँज रहे थे। सोचता था कैसे उच्च विचार हैं! कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुँह फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन भक्ति के बदले रखवाली करते रहे! मगर आज उनके मुँह पर चिन्ता की रेखा तक न दिखाई देती थी। उन्हें सिर्फ़ यह ख़याल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य-मनुष्य नहीं देवता है। बल्कि देवताओं से भी बढ़कर। स्वार्थ से देवता भी खाली नहीं।

(३)

रात के अँधेरे में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों तरफ सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भोंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया, और बाहर

निकलकर सावधानी से फाटक बन्द किया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू लहरा रहे थे।

अन्धकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकलकर ठण्डे पानी से स्नान किया। उसके बाद ऐसे जैसे कोई सुपने में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँचकर उनको अपनी भूल मालूम हुई, साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये, और सोचने लगे, मैं क्या कर रहा हूँ।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और ज़ोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस तरह रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के बाद पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे, और कहते थे—अब कोई ग़रीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा। अब दुनिया दुखियों पर अविश्वास न करेगी।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर, ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

बलिदान

(१)

बड़ा बाज़ार, वज़ीराबाद

प्यारे अमीरचन्द, ३ नवम्बर, १९१५

तुम्हारा पत्र मिला, पढ़कर चिन्ता हुई। भाई, मेरी मानो तो मामला जितनी जल्दी हो सके, तय कर डालो। यह बात अब अधिक समय तक छिपी नहीं रहेगी। "प्रेम छिपाये नहिं छिपे चाहे लाख छिपाय" की कहावत झूठ नहीं है और मुझे तो डर है कि यदि यह बात बाहर निकल गई, तो तुम्हारी और उस बेचारी लड़की दोनों की बदनामी होगी। पहले तुम दोनों छोटे थे। उस समय किसी ने ध्यान नहीं दिया। मगर अब वह समय चला गया। इस समय तुम्हारी अपनी ही आँखें यह भेद खोल देने के लिए काफ़ी हैं। इसलिए सीधा रास्ता तो यही है कि तुम स्वयं जाकर सन्तराम से मिलो और उसके सामने सारी-की-सारी बात ठीक-ठीक कह दो। वह बुद्धिमान् आदमी है, नहीं न करेगा। परन्तु इतना याद रक्खो कि उससे कोई बात छिपाने की ज़रूरत नहीं। देवकी के सम्बन्ध में उसे साफ़-साफ़ पता हो जाना चाहिए कि वह तुमसे अगाध प्रेम रखती है और उसने दृढ़ सङ्कल्प कर रक्खा है कि अगर उसका ब्याह तुमसे न हुआ तो वह आत्म-हत्या कर लेगी। मेरे विचार में उसे इस ब्याह पर कोई आपत्ति नहीं होगी। केवल एक बात है, जिसकी मुझे कुछ चिन्ता है और वह यह कि सन्तराम अब कुछ पैसेवाला हो गया है, परन्तु इतना नहीं कि तुम्हें तुच्छ समझे और तुम्हें घृणा से देखे। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पिता के उपकार ऐसे नहीं कि वह सिर उठा सके। अस्तु, कुछ भी हो, मेरी सम्मति यही है कि उससे मिलो और उससे खुली-खुली बातें करो। तुम्हारी भाभी को अब आराम है। तुम्हारा ब्याह देखने

की उसे बहुत लालसा है। आशा है, अगले महीने मेरी बदली गुजरात को हो जायगी।

उत्तर शीघ्र देना।

तुम्हारा शुभचिन्तक
वज़ीरचन्द

(२)

पेशावर-छावनी
२० नवम्बर, १९१५

मेरी प्यारी देवकी,

मैं आज यहाँ हूँ और दो-चार दिन में यहाँ से भी चला जाऊँगा। कहाँ जाऊँगा ? क्या करूँगा ? कैसे रहूँगा ? इसका अभी कुछ ठिकाना नहीं। परन्तु इतना कह देना ज़रूरी है कि जहाँ रहूँगा और जिस हाल में रहूँगा, तुम्हारी माधुरी मूर्ति हृदय पर बराबर अङ्कित रहेगी और घोर अन्धकार के क्षणों में भी तुम्हारा चिन्तन चमकते हुए तारे की तरह मुझे रास्ता दिखलाता रहेगा। सोचता हूँ, वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हें "अपनी देवकी" कह सकूँगा और संसार के किसी भी व्यक्ति को इस पर एतराज करने का अधिकार न होगा।

तुम्हारे पिता से मुझे इस उत्तर की कभी भी आशा न थी। कैसे मिलनसार आदमी हैं, किसी ने उनके मुख पर कभी क्रोध की रेखा नहीं देखी। परन्तु उस समय वे बहुत जोश में थे। ऐसा मालूम होता था, जैसे बर्फ़ को गरमी आ गई हो। कहने लगे, तुम क्या अपने आपको देवकी के योग्य समझते हो ? देवकी ! तुमसे क्या कहूँ, ये शब्द सुनकर मैं पानी-पानी हो गया। मुझे ऐसे अपमान की आशा न थी। मैं समझता था, उनसे कह देना ही काफ़ी होगा। परन्तु उनका मुख तपे हुए ताँबे की तरह लाल हो गया। मैंने साहस करके उत्तर दिया, मैं पूरा पूरा यत्न करूँगा और मुझे पूरी आशा है कि मैं उसे सब प्रकार का सुख पहुँचा सकूँगा। यह सुनकर उन्होंने मुँह फेर लिया और कहा, मैं झूठी आशा के भरोसे अपनी बेटी का जीवन नष्ट नहीं कर

सकता। मेरा मुँह बन्द हो गया। निरुत्तर होकर मैंने सिर झुका लिया। उस समय मुझे चारों ओर निराशा दिखाई देती थी। एकाएक अन्धकार में बिजली चमक गई। मैंने फिर सिर ऊपर उठाया और कहा, "मगर आप उसका भी कुछ विचार करेंगे या नहीं।"

निराशा आशा का रूप देख रही थी।

उन्होंने पूछा, "उसका विचार? किसका?"

मैंने बड़ी कठिनाई से उतर दिया, "देवकी का।"

आग पर तेल पड़ गया। उन्होंने इस तरह सिर उठाया, जैसे किसी ने सोती कलह जगा दी हो। उस समय उनका मुख तपा हुआ ताँबा था, आँखें लाल अँगारे। गर्जकर बोले—"मैं उससे भी समझ लूँगा। तुमसे भी समझ लूँगा।"

देवकी, वह मेरे पास ताश का अन्तिम पत्ता था। इस पर मुझे बहुत आशा थी। परन्तु तुम्हारे पिता के उत्तर ने पत्थर मार दिया। आशा कुचले हुए साँप के समान बैठ गई। मैंने हारे हुए जुआरी की तरह ढीठ होकर कहा—"तो मेरे लिए कोई आशा नहीं?"

इस समय मेरी आवाज़ में निराशा भरी हुई थी।

उनका क्रोध जाता रहा, कुछ शान्ति से मुस्कराकर बोले—"यदि तुम आप कुछ करके दिखाओ, तो सब कुछ हो सकता है।"

आशा फिर सामने खड़ी थी। मैंने साहस करके पूछा—"क्या करके दिखाना होगा मुझे?"

"कुछ कमा के दिखाओ। मैं अपनी बेटी तुम्हें कैसे ब्याह दूँ, जब जब तक मुझे विश्वास न हो जाय कि तुम अपने बाहु-बल से अपना और उसका निर्वाह कर सकोगे। तुमने एफ० ए० तक शिक्षा पाई है, इससे होता क्या है? आज कल के दिनों में बी० ए० और एम० ए० ठोकरें खाते फिरते हैं। तुम्हें कौन पूछेगा?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। मैंने पूछा, "मुझे कितने दिन की मोहलत आप देते हैं?"

"दो साल की।"

मैं जोश से तीर की भाँति तनकर खड़ा हो गया और यह कहता हुआ बाहर निकल आया—दो साल के बाद आप मुझे इस दशा में न देखेंगे।''

देवकी, अब मैं यह दो साल समुचित रूप से व्यतीत करूँगा और एक-एक क्षण को रुपया पैसे में बदलने का यत्न करूँगा। मुझे सफलता होती है या नहीं, यह भगवान् जाने। परन्तु तुमसे इतना कहना आवश्यक है कि जब कभी निश्चिन्त होकर अपने कमरे में बैठो उस समय उस अभागे का भी खयाल कर लिया करो जो तुम्हारे प्रेम की प्राप्ति के लिए देश से परदेश जाकर मजदूरों की तरह परिश्रम कर रहा है। और जिसके सामने सदा तुम्हारा चेहरा रहता है।

देवकी, मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा से प्रार्थना करो कि मुझे अपने उद्देश्य में सफलता हो और मैं तुम्हें "अपनी देवकी" और तुम मुझे "अपना अमीर" समझ सको।

मुझे पत्र लिखने की भी ज़रूरत नहीं। मैं कब कहाँ हूँगा, इसके सम्बन्ध में मैं तुम्हें क्या बताऊँ। मैं ख़ुद इस समय तक कुछ नहीं जानता। जब फ़ैसला होगा, देखा जायगा।

तुम्हारा प्यारा
अमीरचन्द

(३)

मुहल्ला पुरियाँ,
बटाला
१३ जनवरी, १९१६

चिरंजीव सन्तराम,

यहाँ कुशल है। आपकी कुशल श्रीनारायणजी से चाहता हूँ। पत्र आपका मिला, हाल मालूम हुआ। रायसाहब साँझीराम बहुत ज़ोर दे रहे हैं कि ब्याह जल्दी से जल्दी हो जाना चाहिए। वे कहते हैं कि इस एप्रिल में यदि ब्याह न हो गया। तो उन्हें बहुत कष्ट होगा। आप को भी सोचना चाहिए कि उनके छोटे-छोटे लड़के हैं, स्त्री के बिना

एक-एक दिन बीतना कठिन है। और यह भी सोचना चाहिए कि शादी ब्याहों में लोग झूठी बातें बहुत उड़ा दिया करते हैं। इसलिए यह काम जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा है। रायसाहब की बहन ने देवकी की बहुत बड़ाई की है और यह घर भी बहुत ऊँचा है। लड़की सारी उमर राज करती रहेगी। सगाई हो जाने में क्या हर्ज है? ब्याह बाद में हो जायेगा।

उत्तर वापसी डाक से ही देना। चिट्ठी को तार समझना। बस!

परमेश्वरीदास

(४)

मुहल्ला क़िला, गुजरात
२० जनवरी, १९'२

प्यारे अमीरचन्द,

कई दिन बीत गये, तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। चिन्ता हो रही है। भाई ज़रा जल्दी जल्दी अपनी कुशल-क्षेम लिखते रहा करो। इतनी दूर बैठे हो, चार दिन पत्र न आये तो प्राण निकल जाते हैं। तुम जैसे आदमी को, जो इतना परिश्रम कर सकता हो, आलस्य करना उचित नहीं। तुम पन्द्रह पन्द्रह दिन तक चुप साधे रहते हो, हमें चिन्ता लग जाती है। तुम्हारी भाभी भी तुम्हारे लिए बहुत चिन्ता करती हैं।

देवकी हर समय तुम्हारे ही ध्यान में मग्न रहती है। हमारे यहाँ प्रायः आती जाती रहती है। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया है, आँखों में वह कान्ति नहीं रही। प्रायः रोती रहती है। ऐसा जान पड़ता है जैसे वर्षों से बीमार है। परन्तु तुम्हारी भाभी कहती हैं कि तुम्हारा नाम सुनकर उसका मुँह गुलाब की नाईं खिल जाता है। यार! बड़े भागवान् हो। आज-कल के समय में ऐसी स्त्री मिलनी सजह नहीं। वह तुम्हारी पूजा करती है। बातों बातों में जब तुम्हारा नाम आ जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों उसके मृत-शरीर में प्राण आ गये हैं। वह दिन-रात तुम्हारी सफलता और आरोग्यता के

लिए प्रार्थनाएँ करती रहती है। परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये जब तुम दोनों की मनोकामना सिद्ध हो और यह जुदाई की दीवार दूर हटे।

तुम्हारे काम का क्या हाल है। लाला हरनामदास का नाम मैंने प्रायः सुना है। कहते हैं, बहुत ही भलामानस है। उसने लकड़ियों के काम में लाखों रुपये कमाये हैं। मित्र, जैसे भी हो सके, यत्न करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लो। फिर सफलता निश्चित है। परन्तु मुझे डर है कि कहीं जोश में न आ जाओ और उससे बिगाड़ न लो। तुम्हारा स्वभाव बहुत गरम है। तुम्हारी भाभी की ओर से आशीर्वाद, और देवकी की ओर से—बताओ, मैं क्या लिखना चाहता था, जो नहीं लिखा !

तुम्हारा शुभचिन्तक
वज़ीरचन्द

(५)

मुहल्ला क़िला, गुजरात
२४ जनवरी, १९१६

पूजनीय लाला परमेश्वरीदासजी,

प्रणाम। आपका कृपापत्र पहुँचा ; धन्यवाद। मैं स्वयं चाहता हूँ कि यह काम यथासम्भव जल्दी हो जाय। परन्तु कभी कभी ऐसी रुकावटें सामने आ जाती हैं जिनको रास्ते से हटाना असम्भव हो जाता है। मेरी बूआ की लड़की सावित्री का कल देहान्त हो गया है। जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय में पढ़ती थी और अत्यन्त सुशीला थी। अब ऐसी अवस्था में यह बहुत ही कठिन है कि ब्याह शीघ्र हो सके। फिर भी मैं कर दूँगा। आप अपने बताये हुए उपाय पर चलें ताकि देवकी उस समय कुछ गड़बड़ न कर दे। वर्ना बड़ी बदनामी होगी। कहीं मुँह दिखाने के योग्य न रहेंगे।

शेष रही सगाई की बात। मेरे विचार में इसकी आवश्यकता ही नहीं। सगाई और ब्याह एक ही साथ हो जायँगे। और सब तरह से कुशल है।

यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो लिख भेजें। मैं सेवक हूँ।

आपका दास
सन्तराम

(६)

पंजाब-हौस, बन्नू
१७ एप्रिल, १९१६

माई डीयर वज़ीरचन्द,

सफलता सामने दिखाई दे रही है। देवकी की प्रार्थनाएँ फलती-फूलती देख पड़ती हैं। लाला हरनामदास अब पूरी तरह मेरी मुट्ठी में हैं। उनको मुझपर पूरा-पूरा विश्वास हो गया है। वे अब कोई ऐसा काम नहीं करते जिसमें मुझसे सम्मति न लेते हों। तुम यह सुनकर प्रसन्न होगे कि अब उन्होंने मेरा मासिक वेतन २०० रुपया कर दिया है और ־) पत्ती मुनाफ़ा देने की प्रतिज्ञा की है। इस ־) पत्ती का अर्थ ६,००० रुपया वार्षिक के लगभग है।

परन्तु इस आश्चर्यजनक सफलता का कारण क्या है?

पिछले दिनों लालाजी के एक पुराने मित्र रायसाहब साँझीराम यहाँ आये हुए थे। ये साहब बटाला ज़िला गुरुदासपुर के रहनेवाले हैं और बड़े अमीर हैं। उनके साथ उनका भाई भी था। और इस भाई से उन्हें बहुत प्यार है।

साँझ का समय था। रायसाहब और उनका छोटा भाई दोनों सैर के लिए तैयार हुए। लालाजी ने बहुत मना किया। परन्तु रायसाहब ने परवा न की और बाहर चले गये। उनका विचार था कि बहुत दूर नहीं जायँगे और जल्दी लौट आयँगे। परन्तु जो भाग्य में लिखा हो उसे कौन मिटा सकता है। रायसाहब अभी शहर की फ़सील से थोड़ी ही दूर गये थे कि बन्दूक चलने की आवाज़ आई। रायसाहब और उनके भाई का लोहू सूख गया। इतने में कुछ सरहद्दी सामने आ खड़े हुए। रायसाहब का कलेजा हिल गया। शेर को सामने देखकर जो दशा हिरन की हो जाती है वही दशा रायसाहब की हुई। माथे से पसीना

टपक पड़ा। मृत्यु की भयानक मूर्ति आँखों के सामने फिर गई। उनका सिर नीचे झुक गया; मिन्नतें करने लगे। परन्तु सरहद्दियों का हृदय न पसीजा। एक ने आगे बढ़कर रायसाहब के सिर पर ज़ोर से बन्दूक का दस्ता मारा। रायसाहब बेहोश हो गये। जब उन्हें सुध आई तब वे दीवार के पास पड़े हुए थे। रात आधी के लगभग बीत चुकी थी और उनके भाई का पता नहीं था।

दूसरे दिन बन्नू में हाहाकार मच गया। लोग रायसाहब को देखने आते थे, मानों वे किसी दूसरी सृष्टि के रहनेवाले हों। हमारे मकान पर मेला लग गया। परन्तु रायसाहब पागल हो रहे थे। उनकी आँखों में आँसू थे, मुँह पर दुःख और शोक की घटायें। वे रह-रहकर कहते थे—"पता नहीं, भाई का क्या हाल है।" मैं यह देखता था और मन ही मन कुढ़ता था। साँझ हुई तो संदेसा पहुँचा कि तीन दिन के अन्दर-अन्दर पचास हज़ार रुपया पहुँचा दो, नहीं तो उसका सिर काटकर भेज दिया जायगा। रुपया आ जाएगा, तो आदमी की जान बच जायगी।

रायसाहब धनाढ्य आदमी हैं। उन्होंने फ़ैसला किया कि रुपया भेज दिया जाय। परन्तु मैंने रोक दिया और बन्दूक लेकर निकल खड़ा हुआ। सारा शहर कहता था, इसकी बुद्धि मारी गई है। स्वयं लालाजी ने भी कहा, तुम्हारी मौत आ गई है। परन्तु मैंने सुना अन-सुना कर दिया, और इस तरह जोश में शहर से बाहर निकला, जिस तरह बिफरा हुआ शेर पिंजरे का दरवाज़ा खुलने से शिकार पर झपटता है। कुछ लोग मेरे साथ आये। उनका हृदय मेरे लिए सहानुभूति से भरा हुआ था। परन्तु बाहर आकर उनके पाँव में जंज़ीरें पड़ गईं। प्राणों के भय ने सहानुभूति के जोश को दबा लिया। चन्द्रमा की चाँदनी बादलों में आकर क्षीण हो गई है। परन्तु मैं जोश में आया हुआ अन्धाधुंध उस सड़क पर चल रहा था जिसपर यह घटना हुई थी। मुझे मौत की ज़रा भी परवा न थी।

रात आधी से अधिक बीत गई, चारों ओर निस्तब्धता छा गई।

कोई और समय होता तो मेरे लिए एक भी पग चलना कठिन हो जाता। परन्तु इस समय हृदय में जोश था, सीने में गरमी। मेरी चाल में बिजली की तेज़ी थी। वज़ीरचन्द, मेरे इस जोश और वीरता की तह में देवकी का विचार लहरें मार रहा था। मैं बार बार सोचता था कि अगर सफलता हुई तो लाला हरनामदास मेरी वीरता पर मुग्ध हो जायेंगे और मेरे प्रेम की सफलता का मार्ग बहुत कुछ साफ़ हो जायगा। मैं आदमी हूँ, देवता नहीं हूँ। मैंने दूसरे के हित के लिए जान जोखों में डाल दी हो, यह झूठ है। मेरा प्रेम मेरा पथ-प्रदर्शक बन गया था। वज़ीरचन्द! संसार के बड़े से बड़े कार्यों में सौन्दर्य और प्रेम का कितना हाथ है, यह कौन कह सकता है? इतिहास के पन्ने इससे भरे पड़े हैं।

मैं सरहदियों के इलाक़े में पहुँच गया। आशा के साथ निराशा लिपटी हुई थी। सोचता था, यदि पकड़ा गया, तो मुझे बचानेवाला कौन है? रायसाहब तो अमीर आदमी हैं, इसपर लाला हरनामदास मित्र हैं। उनके भाई के लिए तो थैलियाँ पहुँच जायँगी, परन्तु मेरे लिए कोई सौ रुपये देने को भी तैयार न होगा। आशा के पाँव लड़-खड़ा गये। उस दूरी का ध्यान करके, जो मेरे और बन्नू के बीच में थी, मेरे हृदय पर भय छा गया, जिस प्रकार छोटा बालक शिखर पर से पृथ्वी की ओर देखकर काँप जाता है। परन्तु अब डरना व्यर्थ था। अपने बचाव के लिए मैं साहस से आगे बढ़ा, पीछे देखने का साहस न हुआ। एकाएक एक वज़ीरी सामने आया। मेरा शरीर काँपने लगा। उसने मुझे सिर से पाँव तक देखकर पूछा—"तू कौन है?"

मैंने अपने गिरते हुए साहस को स्थिर करके उत्तर दिया—"जो आदमी कल पकड़ आया है, मैं उसके सम्बन्ध में बात-चीत करने आया हूँ।"

"तो वह सामने का मकान है, चले जाओ।"

वज़ीरी चला गया। उसके चले जाने पर मेरी देह में जान आ

गई। पिछले पहर का समय था। चारों ओर शान्ति थी। पर मेरे हृदय में हलचल मची हुई थी। मैं कुछ देर ठहर गया। जिस तरह अपराधी अपराध करने से पहले हिचकिचाता है। उसके बाद धीरे-धीरे उस मकान की ओर बढ़ा। उस समय आशा-निराशा के समुद्र में डुबकियाँ खा रहा था। एकाएक मेरा हृदय हर्ष से उछलने लगा। डूबती आशा को किनारा मिल गया था। दरवाज़ा चौपट खुला था और घर के सब लोग मीठी नींद में खर्राटे ले रहे थे। मैं अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ा। सब-के-सब सो रहे थे और एक ओर कोने में रायसाहब का भाई चारपाई से जकड़ा हुआ था।

वज़ीरचन्द, मेरी उस समय की अवस्था पर ज़रा विचार करो। मैंने होंठों पर उँगली रखकर रायसाहब के भाई को चुप रहने का इशारा किया और उसके बन्द खोलने लगा। परन्तु आँखें उन सोनेवालों की ओर लगी हुई थीं। उनका जागना मौत का जागना था। उस समय ऐसा मालूम होता था कि समय रुक गया है और मेरे हाथों में शक्ति नहीं रही। ज्यों त्यों करके रायसाहब का भाई छूटा और हम दोनों दबे-पाँव बाहर निकले और लम्बे-लम्बे डग मारते हुए भागे। आगे ज़िन्दगी थी, पीछे मौत थी, बीच में हम दोनों थे।

इसके पश्चात् हम किस तरह दिन को खेतों, उजाड़ों, खण्डहरों और गुफाओं में छिपे रहते थे, किस तरह रात को थोड़ा थोड़ा चला करते थे, अन्त में किस तरह बन्नू पहुँचे और किस तरह लोगों को मेरी सफलता पर आश्चर्य हुआ, ये सब बातें ऐसी हैं जिनके लिखने की ज़रूरत नहीं। जब कभी मिलूँगा तब सब सुनाऊँगा। अन्त में जब हम बन्नू पहुँचे, तो शहर में शोर मच गया। लोग मेरी ओर उँगलियाँ उठा-उठाकर देखते थे, मानों मैं उनका इष्टदेव हूँ। मैं यह देखता था और मन ही मन प्रसन्न होता था।

दूसरे दिन लाला हरनामदास ने मुझे अपने पास बुलाया, और कहा, "तुम्हारे साहस से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस मास से तुम्हारा वेतन २००) कर दिया गया है और मुनाफ़े में -), की पत्ती होगी।"

वज़ीरचन्द, मेरा मुँह खुशी से लाल हो गया, जैसे गरमी के दिनों में आकाश पर ऊदी घटा छा जाती है। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानों देवकी मेरे बहुत निकट है और मैं उसे थोड़ा-सा हाथ बढ़ाकर पकड़ सकता हूँ। इससे तुम अनुमान कर सकते हो कि आज-कल मैं कैसा प्रसन्न और प्रफुल्लित हूँ। और मेरे मन की क्या हालत है?

यह पत्र देवकी को दिखा देना, देखकर .खुश हो जायगी। और उसकी .खुशी मेरी .खुशी है।

तुम्हारा परदेसी मित्र अमीरचन्द

(७)

पंजाब-हौस, बन्नू

४ मई, १९१६

माई डीयर वज़ीरचन्द,

तुम्हारा पत्र मिला, पढ़कर हृदय बैठ गया। मुझे यह ख़याल भी न था कि ऐसा हो सकेगा। मुझे देवकी से यह आशा न थी। वह मुझे चाहती थी। उसे मुझ से अगाध प्रेम था। बिछुड़ते समय मैंने उसके गालों पर निरन्तर आँसू बहते देखे हैं। उसकी बातों पर मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अन्तिम भेंट में उसने अपने प्रेम को ऐसे ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किया था कि मैं अचम्भे में आ गया। उसने कहा था, मैं तुम्हारी हूँ, तुम मेरे हो, और हम दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। परमात्मा ने हमें एक दूसरे के लिए पैदा किया है। जो हमारे रास्ते में खड़ा होगा, पिस जायगा। मैंने पूछा, क्यों देवकी! यदि तुम्हारा पिता तुम्हारा ब्याह किसी दूसरे से कर दे तो क्या करोगी? वज़ीरचन्द! यह सुनकर देवकी का मुँह लाल हो गया, आँखें तमतमाने लगीं। उसने एक क्षण के लिए सोचा और क्रोध से सिर ऊँचा करके उत्तर दिया, यदि ऐसी बात हुई, तो ब्याह के पहले ही हवनकुण्ड में गिरकर जल मरूँगी। उसके ये शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं। किसे पता था कि वही देवकी एक अमीर आदमी के साथ चुप-चाप ब्याह करा लेगी और उस अभागे

का कोई विचार न करेगी जो केवल उसको और उसके प्रेम को जीतने के लिए अपने आपको मौत के मुँह में ढकेलने के लिए भी तैयार हो गया था।

लाला सन्तराम पर मुझे अत्यन्त शोक है। उन्होंने मर्द होकर अपने वचन को पूरा नहीं किया। परन्तु इसपर मुझे आश्चर्य नहीं। मुझे आश्चर्य देवकी पर है, जिसने स्त्री होकर मुझे ऐसा धोखा दिया और सिद्ध कर दिया कि स्त्री पर विश्वास करना संसार की सबसे बड़ी भूल है। परन्तु वज़ीरचन्द, मुझे अभी तक सन्देह होता है कि यह बात झूठी है। पत्र तुम्हारे नाम से है। तुम्हारे हाथ का लिखा हुआ है—वही अक्षर, वही काग़ज़, वही स्याही। आँखें पहचानती हैं, परन्तु हृदय कहता है कि नहीं, देवकी यह नहीं कर सकती। निःसन्देह वह मुझसे प्रेम करती थी। पर अब यह क्या हो गया? जब से पत्र पढ़ा है, आँखों से बराबर आँसू टपक रहे हैं। मस्तिष्क में आग-सी लग गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मानों मैं पागल हो जाऊँगा। मानों संसार के बरबाद हो जाने का दिन आ गया है।

तुम्हारा अभागा मित्र
अमीरचन्द

(८)

मोहल्ला क़िला, गुजरात
७ जून, १९१६

पूजनीय लाला परमेश्वरीदास,

प्रणाम! बहुत दिन हुए, आपका कोई पत्र नहीं मिला। क्या कारण है? चिरञ्जीव साँझीराम के सम्बन्ध में भी कोई समाचार नहीं प्राप्त हुआ। कई पत्र लिखा चुका हूँ, परन्तु किसी का उत्तर नहीं मिला। कृपा करके आप शीघ्र उत्तर दें कि उनका क्या हाल है? और उन्हें मिलकर कहें कि पत्र लिखने में इतनी सुस्ती न किया करें। मेरा दिल घबरा जाता है, और नींद हराम हो जाती है।

देवकी का क्या हाल है? आशा है, अब उसका स्वभाव पहले-सा नहीं रहा होगा, और बावलापन दूर हो गया होगा। आप मानें चाहे न मानें, यह बात अलग है। परन्तु मुझे यह विचार सदा दुःख देता रहेगा कि मैंने अमीरचन्द से धोखा किया है। वह मेरे ही कहने से इतनी दूर घर से बाहर चला गया। देवकी उसे चाहती थी और मेरा मन कहता है कि यदि उसका ब्याह अमीरचन्द से हो जाता, तो निस्सन्देह उसका जीवन अधिक सुखमय होता। वह इस ब्याह से ज़रा भी सहमत नहीं थी। यह तो हमारी चाल चल गई, नहीं तो देवकी तो ब्याह के ससय पर कुछ कर गुज़रने को तैयार थी। जब उसने बनावटी पत्र देखा तो उसका प्रेम उससे विमुख हो गया। उसे यह आशा न थी कि अमीरचन्द उससे धोखा करेगा। वह एकाएक जोश में आ गई और उसी समय मैंने आगे बढ़कर अपनी पगड़ी उसके पाँव पर रख दी। गरम लोहे पर हथौड़ा काम कर गया। देवकी रायसाहब से ब्याह करने पर सहमत हो गई। परन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि यदि ब्याह उसी रात न हो जाता, तो देवकी फिर अस्वीकार कर देती। उसके प्रतीकार के विचार ने हमारी कठिनाई दूर कर दी, नहीं तो हम कहीं के न रहते। परमात्मा का धन्यवाद है कि देवकी को सन्देह नहीं हुआ। नहीं तो......

परन्तु यद्यपि अब मुझे इस तरह की बातें सोचना भी नहीं चाहिए, मेरे मस्तिष्क में प्रायः विचार उठता रहता है कि मैंने पाप किया है और पिता होकर पिता का कर्तव्य पालन नहीं किया। सुना है, अमीरचन्द धन-दौलत कमाने के लिए सिर तोड़ प्रयत्न कर रहा है, और उसने परदेश में बहुत सा रुपया कमाया है। जब यह समाचार सुनता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ने मुँह पर तमाचा मार दिया है। सोचता हूँ, जब वह वापस आयेगा, तब क्या कहेगा?...और मैं उसके सामने किस तरह सिर उठाऊँगा!

आपका दास
सन्तराम

(९)

बटाला
२० जुलाई, १९१६

माई डीयर लाला हरनामदास,

यह ब्याह करके मैं बहुत दुखी हो गया हूँ। दिन रात सोचता रहता हूँ कि कैसी ढिठाई कर बैठा? सौन्दर्य देखकर रीझ गया था, अब पछता रहा हूँ। वह सुन्दरी है, यह मैं मानता हूँ। वह नम्र भी है, इसमें सन्देह नहीं। वह सुशीला भी है, घर का प्रबन्ध उसके पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा कर दिया है। अब घर में नौकर लोग लूट नहीं मचा सकते। वह पैसे पैसे का हिसाब रखती है। मेरे साथ उसका बर्ताव बहुत अच्छा है। मुझे देखती है तो आदर से खड़ी हो जाती है। मेरी प्रत्येक इच्छा को अपने लिए आज्ञा मानती है और उसे पूरा करना अपने जीवन का उद्देश्य समझती है। रात को अगर देर से घर आऊँ, तो जागती रहती है, और जब तक मैं न आऊँ, चाहे सारी रात क्यों न बीत जाय, कभी सोने का विचार तक नहीं करती। यह सब कुछ है, परन्तु उसे मुझसे प्रेम नहीं। उसकी आँखें, उसका मुख, उसकी आकृति सब साफ़-साफ़ कहते हैं कि देवकी के शरीर पर मेरा अधिकार है, परन्तु हृदय पर कोई और विचार शासन करता है। उसके समीप जाते हुए मेरा हृदय काँप जाता है। मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ, मानों वह सुन्दर नागिन है। उसके पास बैठकर मेरे मन पर बोझ-सा पड़ जाता है और चित्त उदास हो जाता है। मैं ब्याह करके भी कुँआरपन का जीवन बिता रहा हूँ। वह मेरा आदर करती है और मेरे सुख का पूरा पूरा ध्यान रखती है। परन्तु ब्याहे हुए मनुष्य के लिए जो वस्तु अमृत के समान है उससे हम दोनों वञ्चित हैं। उसे मुझसे ज़रा भी प्रेम नहीं। उसने कभी मुझसे कोई चीज़ नहीं माँगी। जो कुछ देता हूँ, ले लेती है। जो कुछ ख़रीद लाता हूँ, उसपर खुश हो जाती है। मैं चाहता हूँ, हाँ मेरे प्यारे मित्र! मैं तुम्हें क्या बताऊँ, कितना चाहता हूँ कि वह मुझसे कुछ माँगे,

मुझसे लड़े झगड़े, मुझे तङ्ग करे—वह नहीं करती। मैं इन बातों के लिए तरसता हूँ। परमेश्वर ने मुझे सब कुछ दिया है, परन्तु मैं फिर भी अभागा हूँ—मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं। मैं वह मछली हूँ, जिसके ऊपर-नीचे, आगे-पीछे पानी हो, परन्तु उसे एक बूँद पीने की भी आज्ञा न हो। हा! कैसा भयानक दुर्भाग्य है। एक दिन मैंने उसे प्यार से पकड़ लिया और कहा—"देवकी! तुम्हें क्या दुःख है? मुझसे कहो मैं उसे जिस तरह भी होगा, दूर करने का यत्न करूँगा। सिर्फ़ एक बार कह दो।"

देवकी ने अपनी सुन्दर आँखों से मेरी ओर देखा और कुछ देर तक चुप रही। इसके बाद सहम गई, मानों कबूतरी बिल्ली के मुँह में फँस गई हो। उसकी आँखों में आँसू आ गये और उसने सहसा अपने आपको मेरे हाथों से छुड़ा लिया। मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। देवकी ने धीरे से उत्तर दिया—"मुझे कोई दुःख नहीं।" परन्तु उसका इस तरह बोलना कह रहा था कि यह झूठ है। मुझे विचार आया, क्या मुझ-सा अभागा पुरुष भी संसार में होगा, जिसकी स्त्री भी उसके सामने अपना दिल नहीं खोलती। प्यारे मित्र! यह कैसा दुःख है, यह कैसी विपत्ति है, यह कैसा नरक-कुण्ड है? अच्छा होता, यदि मैं यह ब्याह न करता। परन्तु अब क्या हो सकता है? जो होना था, हो चुका।

मेरे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करो कि मेरे जीवन की अँधेरी रात में भी उजाला हो।

तुम्हारा अभागा मित्र
साँझीराम

(१०)

माधोबाग़, बम्बई
४ दिसम्बर, १९१६

माई डीयर वज़ीरचन्द,

लगातार चार मास से घूम रहा हूँ। हरद्वार, हृषिकेश, मथुरा, वृन्दावन, बनारस, जगन्नाथ सब स्थानों में हो आया हूँ, मगर हृदय

को शान्ति नहीं मिली। चित्त वैसे का वैसा ही व्याकुल है। आँखें हर समय आँसुओं से भरी रहती हैं। मेरे लेक्चरों की भारतवर्ष में धूम मच गई है। जहाँ जाता हूँ, पब्लिक राह में आँखें बिछा देती है। समाचार-पत्र मेरी प्रशंसा से भरे रहते हैं। अभी एक सप्ताह के लगभग हुआ, लाहौर के दैनिक पत्र ट्रीब्यून ने मेरे सम्बन्ध में एक लीडिङ्ग आर्टिकल लिखा है। उसे पढ़कर तुम आनन्द से उछल पड़ोगे। परन्तु मुझे यह बातें भी प्रसन्न नहीं कर सकतीं, जैसे बुझे हुए दीपक को तेल भी नहीं जला सकता। मरे हुए आदमी को आग भी गरम नहीं कर सकती ?

२७ नवम्बर को मैं बटाले गया। हृदय में एक लालसा चुटकियाँ ले रही थी, शायद कहीं उसे देख सकूँ। वज़ीरचन्द, मुझे दोष न दो। यह मेरा क़सूर नहीं है। मुझे अभी तक उसका ध्यान है। उसका ब्याह हो चुका है। वह पराई सम्पत्ति बन चुकी है। सोसायटी और उसके नियमों की दृष्टि में मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु प्रेम के नाते से वह अब भी मेरी है। मैंने सोचा, यदि उसे दूर से देख सकूँ, तो क्या हर्ज है। मैं बटाले पहुँचा। स्टेशन पर लोगों की भीड़ थी। लोग मुझपर इस तरह टूटते थे, जैसे बच्चे मिठाई पर। मैंने प्रोफ़ेसर राममूर्ति के जुलूस देखे हैं। मैंने पण्डित मालवीय के प्रोसेशन देखे हैं, परन्तु जो धूम-धाम मेरे स्वागत में थी, वैसी मैंने कभी नहीं देखी। प्लेटफ़ार्म पर सिर ही सिर दिखाई देते थे। गाड़ी के स्टेशन पर पहुँचते ही लोगों ने ज़ोर से जय-जयकार किया, "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।" मेरा हृदय एक क्षण के लिए प्रसन्न हो गया। परन्तु एकाएक देवकी के विचार ने मुझे शोकातुर कर दिया। एक क्षण पहले की प्रसन्नता कहाँ गई, यह पता न लगा। जिस प्रकार चन्द्रमा पर घटा आ जाने पर उसकी किरणें दिखाई देना बन्द हो जाती हैं, यही हाल मेरा हुआ।

गाड़ी खड़ी हुई। मैंने कमण्डलु और कम्बल सँभाला और नीचे उतरा। हिन्दू-सभा के प्रतिष्ठित सज्जनों ने मेरे पाँवों पर सिर रख

दिया। मैंने सबको आशीर्वाद दिया और बाहर निकला। जो लोग प्लेटफ़ार्म पर नहीं जा सकते थे वे बाहर खड़े थे। मुझे देखते ही उन्होंने भी जय-जयकार किया, "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।"

एकाएक मेरी दृष्टि रायसाहब साँझीराम पर पड़ी। मैं सन्नाटे में आ गया। वे बड़ी श्रद्धा से आगे बढ़े और मेरे पैरों से लिपट गये। कृतज्ञता के भाव ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया था। वज़ीरचन्द! मैं साधु हूँ। मेरे हृदय और वाणी में अन्तर नहीं होना चाहिए। उस समय मेरा रक्त गरम तेल की तरह खौल रहा था। मेरा हृदय उससे घृणा करता था। कभी मैंने उसके भाई को मृत्यु के मुख से खींचकर निकाला था। परन्तु अब अवसर मिलता, तो स्वयं रायसाहब को गोली मार देता। फिर भी मैंने मुस्कराकर कहा—"अहा! राय-साहब हैं, कहिए कुशल तो है? मज़े में तो हैं आप?

रायसाहब ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "आपकी दया-दृष्टि से। परन्तु मेरी एक प्रर्थाना है। स्वीकार कीजिएगा?"

मैंने कुछ विस्मित-सा होकर पूछा—"कहिए क्या आज्ञा है राय साहब!

इस समय मेरे हृदय में विचारों की भरमार हो रही थी। सोचता था, क्या राय साहब मुझे अपने यहाँ ठहरने के लिए न कहेंगे। परन्तु साथ ही यह भी विचार आता था कि मैं हिन्दू-सभा का अतिथि हूँ। पता नहीं, उन्होंने क्या प्रबन्ध किया है? निराशा आशा के साथ खड़ी थी।

रायसाहब ने नम्रता से कहा—"मेरी प्रार्थना है, आप मेरे यहाँ ठहरिए।"

आशा विश्वास बन गई, मेरा हृदय आनन्द में हिलोरे लेने लगा। मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया—"साधु जहाँ ठहरेगा, कुछ कष्ट ही देगा।"

"मुझे इस कष्ट की बड़ी अभिलाषा है। तो आपने स्वीकार कर लिया?"

"बहुत अच्छा।"

मैं मोटर पर सवार हुआ। लड़के भजन गा रहे थे। आगे बैंड बाजा बज रहा था। लोग मुझपर फूल-वर्षा कर रहे थे। मेरा प्रोसेशन निकला। बाज़ारों में पुरुष थे, छतों पर स्त्रियाँ थीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं कोई महाराज हूँ, और लोग मेरी प्रजा हैं। कोई और समय होता, तो मैं हर्ष से फूला न समाता। मगर इस समय मुझे रत्ती भर भी खुशी न थी। प्रेम की असफलता का विचार मुझे उदास कर रहा था। मोटर के साथ यह जुलूस मेरे लिए मृतक की अर्थी था। जुलूस समाप्त हुआ और मोटर रायसाहब की कोठी पर रुका। मेरे प्राण होंठों तक आ गये। देखें अब क्या होता है? कैसे पटती है। मेरी आँखें किसी की खोज करने लगीं, परन्तु वह न दिखाई दी। मुझे एक सजे हुए कमरे में ठहराया गया।

तीसरे पहर का समय था। मैं बैठा हुआ गीता का पाठ कर रहा था। इतने में किसी के पाँव की चाप सुनाई दी। मेरे मन में हलचल मच गई। मैं सोचने लगा—क्या यह वही है, जिसकी माधुरी छवि देखने के लिए कई मास से तड़प रहा था। क्या मेरी कामना पूरी होने का समय आ गया। चिक उठी, मेरा कलेजा धड़कने लगा। एकाएक शीतकाल के दिन में मस्तक पर पसीना आ गया।

यह देवकी थी। उसने मुझे देखा, तो ठिठक गई, जैसे रात में चोर देख लिया हो। उसके मुख पर हैरानी दौड़ गई, कान तक लाल हो गये। वह साधु के विचार से आई थी, परन्तु उसे मैं दिखाई दिया। वह बिजली के समान वापस मुड़ी। श्रद्धा घृणा में बदल गई थी। एकाएक मैंने कहा, "देवकी! ज़रा ठहर जाओ।"

मेरे स्वर में प्रेम और विनय के अंश मिले हुए थे, वे देवकी के पाँवों की जंज़ीर बन गये। वह जाते जाते रुक गई और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। उसकी जिह्वा बन्द थी, परन्तु शरीर काँप रहा था, जैसे ज्वर का वेग हो। मैं उसके मुँह की ओर देख रहा था और अपने अतीत काल को स्मरण कर रहा था, कि आज देवकी पराई हो गई।

कुछ समय तक देवकी इसी तरह खड़ी रही, परन्तु एकाएक चौंक पड़ी, मानों मिट्टी की मूर्ति में प्राण आ गये हों। मैंने कहा,—"देवकी! मैंने साधु का वेश पहन लिया है, परन्तु मेरा मन अभी तक वैसा ही है। मैं तुमसे एक शिकायत करना चाहता हूँ। क्या तुम्हारे पास सुनने के लिए कान और अवसर है ?"

देवकी के मुखमण्डल पर अस्त होते हुए सूर्य की लाली छा गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसके हृदय में क्रोध की अग्नि धधक रही है। मुँह की लाली इस अग्नि के चिनगारे थे। उसने धीरे से कहा,—"कहो, क्या कहते हो ? मैं सुनूँगी, और जवाब दूँगी।

"मेरा मौन मेरी शिकायत है, तुम जवाब दो।"

देवकी अब और सहन न कर सकी। उसने कड़ककर जवाब दिया,—"काहे का जवाब दूँ ?"

"अपने इस पाप का।" मेरा इशारा उसके ब्याह की ओर था।

वह बोली—"तुम अपने आपको इस प्रश्न का अधिकारी समझते हो ?"

"हाँ, पूर्ण रूप से।"

देवकी ने अपनी जेब से एक पुरानी चिट्ठी निकालकर मेरे सामने रख दी और कहा,—"इसे देखकर भी ?"

मैंने आश्चर्य से चिट्ठी पढ़ी। मेरे अचम्भे का ठिकाना न था। वज़ीरचन्द, यह चिट्ठी बन्नू के किसी टेकचन्द की ओर से गुजरात के किसी जमनादास के नाम थी। मैं इन दोनों को नहीं जानता। परन्तु चिट्ठी मेरे ही विषय में थी। इसमें लिखा था कि गुजरात का एक नवयुवक अमीरचन्द यहाँ आया हुआ है। उसे हमने (टेकचन्द से अभिप्राय है) अपनी लड़की से ब्याह के लिए पसन्द किया है। अमीरचन्द ने पहले-पहल तो न माना, परन्तु अब रुपया के लोभ से मान गया है। यह चिट्ठी पढ़कर मेरे प्राण निकल गये। मुँह पर पीलापन छा गया। देवकी ने मेरी ओर देखते हुए पूछा,—"अब भी क्या अपना वही प्रश्न दोहराते हो ?"

मैंने अपने गिरते हुए धीरज को ज़रा सँभालकर जवाब दिया—"हाँ, मैं अब भी अपने आपको वही प्रश्न दोहराने का अधिकारी समझता हूँ।"

देवकी ने आश्चर्य से कहा, "और यह चिट्ठी ?"

"मालूम होता है, तुम्हारे पिता का धोखा है।"

देवकी खड़ी हो गई। इस समय उसका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। उसने पूछा—"तो तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ, अभी तक ?"

"नहीं।"

"और अब साधु क्यों हुए हो ?"

"और क्या करता ?"

देवकी खड़ी थी, यह सुनकर वहीं बैठ गई, और दोनों हाथों से अपना मुँह छिपाकर रोने लगी। अब मुझे और उसको वास्तविक भेद का पता लगा। दोनों के दुःख और शोक की थाह न थी। दोनों को धोखा दिया गया था।

रात को मेरा लेक्चर हुआ। मैंने कलेजा निकालकर लोगों के सामने रख दिया और ब्याह की बुराइयों पर अपने विचार प्रकट किये। मैं सात मास से लेक्चर दे रहा हूँ। परन्तु उस रात के लेक्चर में जादू था। जनता की आँखों में आँसू भरे हुए थे और स्त्रियाँ तो बिलख-बिलखकर रो रही थीं। परन्तु लेक्चर का अधिकतर प्रभाव रायसाहब और देवकी पर हुआ। दोनों के मुख का रङ्ग उड़ा हुआ था दूसरे दिन पता लगा कि देवकी ने साड़ी पर तेल छिड़ककर कपड़ों में आग लगा ली है। मुझपर पहाड़ टूट पड़ा। जी चाहता था कि उसके साथ ही जल मरूँ। परन्तु, फिर यह विचार रोकता था कि इससे देवकी को कलङ्क लगेगा। लोग तरह-तरह की बातें करेंगे। उसने ब्याह करके भी प्रेम की आन को निभाया; क्या मैं उसकी मृत्यु के बाद उसकी धूल उड़ाऊँगा। यह प्रेम का मार्ग नहीं, पाप का पथ है।

वज़ीरचन्द, अब मेरा संसार उजड़ गया है। पहले सोचता था कि देवकी मेरी नहीं; न सही, जीती तो है। कभी नज़र आ जायेगी। पर अब यह बात भी नहीं रही। अब जीकर क्या करूँगा। यह मेरा अन्तिम पत्र है। कल के समाचार-पत्र में मेरी मौत का समाचार पढ़ो तो आश्चर्य्य न करना। देवकी मेरी बाट देख रही होगी, मैं उसे अधिक देर तक व्याकुल नहीं रखना चाहता। आख़िरी नमस्ते!

तुम्हारा कोई घड़ी का मेहमान

अमीरचन्द

(११)

माधोबाग़, बम्बई

५ दिसम्बर १९१६

माई डियर लाला हरनामदास,

मैं आज ही यहाँ पहुँचा हूँ और आते ही यह समाचार सुना है कि स्वामी सन्तोषानन्द भी मर गये हैं। उन्होंने ज़हर खा लिया है। जब से मैंने उनकी और देवकी की बात-चीत छिपकर सुनी थी तभी से मुझे आश्चर्य्य हो रहा था कि अब क्या होगा। यह मृत्यु इस नाटक का ड्राप है।

देवकी की आश्चर्य्यजनक उदासीनता और मौन का रहस्य अब जान पड़ा है। और मेरी दृष्टि में उसका सम्मान कई गुना अधिक हो गया है। वह अमीरचन्द से प्रेम करती थी। उसका हृदय उसे चाहता था। फिर भी उसने मेरा मन रखने का पूरा प्रयत्न किया और अपने प्रेम को अन्दर ही अन्दर दबा रक्खा। परन्तु जब उसे अपने पिता की धोखेबाज़ी का पता लगा तब उसने आत्महत्या कर ली। इसके सिवाय और उपाय ही क्या था? वह और कर ही क्या सकती थी?

सन्तराम ने बड़ी भूल की। उसे सोचना चाहिए था कि वह क्या कर रहा है? उसे ख़याल करना चाहिए था कि संसार में रुपया ही

सब कुछ नहीं। उसका लोभ दो हत्याओं का कारण बना और हमारी जाति इन दो बहुमूल्य रत्नों से वञ्चित हो गई। परमात्मा हमको सुबुद्धि दें।

तुम्हारा अभागा मित्र
साँझीराम

पारिवारिक शिक्षा

(१)

लाला चमनलाल का ख़र्च आमदनी से अधिक था, इसलिए प्रायः उदास रहा करते थे। उनकी स्त्री की हथेली में छेद था, पानी की भाँति ख़र्च करती थी। लाला चमनलाल बहुत मितव्ययी थे। उनका अपना ख़र्च बीस रुपये से अधिक न होता था। मगर उनकी स्त्री बड़े घर की बेटी थी, मख़मली सलीपर पहनती, रेशमी साड़ी, रुपये का घी दूसरे दिन ख़र्च कर देती थी। दो तीन भाजियों के बिना रोटी का ग्रास उसके गले से नीचे न उतरता था। और रोटी खाकर जब तक फल न खा लेती तब तक भोजन हज़म न होता था। यही नहीं, दस-पन्द्रह रुपये मासिक लैस-फीतों में उड़ जाते थे। दोपहर के समय अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ उसके पास आ बैठतीं तो उनके लिए मिठाई मँगवाई जाती। लाला चमनलाल यह देखते तो बहुत कुढ़ते। प्रायः स्त्री को समझाया करते,—"देखो यह चाल अच्छी नहीं। रुपया-पैसा लहू-पसीना एक करके मिलता है, सोच-समझकर खर्च करो। कन्यायें हैं, वे नीम के पेड़ की भाँति बढ़ रही हैं। उनके व्याह के लिए अभी से बचाना आरम्भ करोगी तो समय पर पूरा पड़ेगा, नहीं तो भाई-चारे में नाक कट जायगी। इस तरह धन को उड़ाना लखपति लोगों को शोभा देता है। इससे उनकी मान-प्रतिष्ठा को चार चाँद लग जाते हैं। परन्तु निर्धनों के लिए ऐसा व्यर्थ ख़र्च करना हलाहल विष के समान है। उनकी भलाई इसी में है कि फूँक-फूँककर पाँव धरें। सहेलियों से मिलो बर्तो, मनाही नहीं। उजले वस्त्र पहनो, मना ही नहीं। परन्तु रुपये को रुपया समझकर ख़र्च करो। दिखावे के लिए सारी आयु का सुख गिरवी न रख दो। वर्ना आज ख़ुश होती हो, कल पछताओगी।"

रामप्यारी वह बातें सुनती तो सिर झुका लेती और सच्चे हृदय से

प्रतिज्ञा करती कि भविष्य में कभी ऐसा न करूँगी। परन्तु उसकी यह टेव प्रकृति का एक अंग बन चुकी थी, मास के अन्त में फिर यही कठिनाई आ पड़ती। रुपया पैसा फिर समाप्त हो जाता, ज़रूरी सामग्री फिर उधार मँगावाई जाती, लाला चमनलाल फिर कुढ़ते, रामप्यारी फिर प्रतिज्ञा करती, परन्तु यह प्रतिज्ञा कभी पूरी न हुई। यहाँ तक कि मितव्ययिता के विचार से लाला चमनलाल ने लाहौर छोड़कर पास के ग्राम इच्छेर में रहना आरम्भ किया। इससे मकान के किराये में तो सोलह रुपये मासिक की बचत हो गई, मगर लाला चमनलाल पर मुसीबत टूट पड़ी। अब उन्हें पाँच मील रोज़ पाँव प्यादा चलना पड़ता था। सुहृद् मित्र कहते—"कैसे सूम हो, एक साईकल क्यों नहीं ख़रीद लेते, रोज़ रोज़ के झञ्झट से छूट जाओगे।" कोई कहता—"सूद पर रुपया चढ़ाते हो, अपने आराम का क्यों ख्याल नहीं करते।" ये शब्द लाला चमनलाल के हृदय में भाले की तरह चुभ जाते, परन्तु दूध का घूँट करके पी जाते। बेबसी जीभ को पकड़ लेती थी। क्या कहते, क्या न कहते।

(२)

साँझ का समय था, रामप्यारी बेटी के गौन में सिल्मा-सितारा लगा रही थी कि चमनलाल ने दफ्तर से आकर एक गुलाबी लिफ़ाफ़ा उसके आगे रख दिया। रामप्यारी ने चौंककर पूछा,—"क्या है?"

"मिसेज़ रामरखामल ने तुम्हें दावत दी है।"

"कब?"

"दसहरे के दिन।"

रामप्यारी को भोज-निमन्त्रणों का बहुत चाव था। वह ऐसे अवसर पर हर्ष से उछल पड़ती थी। परन्तु इस समय उसके मुख पर उदासी छा गई। उसने उठकर लिफ़ाफ़े को लौटा दिया और कहा,—"मैं न जाऊँगी।"

रामप्यारी भोज में शामिल होना अस्वीकार कर देगी इस बात का उन्हें ख़याल तक न था और ख़ासकर मिसेज़ रामरखामल के साथ तो

उसका पुराना सम्बन्ध था। उन्होंने घबरा कर पूछा,—"क्यों, खैर तो है?"

रामप्यारी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"वहाँ जितनी स्त्रियाँ आती हैं सबकी सब सज-सजाकर आती है। मैं उनमें जाकर नक्कू न बनूँगी। कोई काम का कपड़ा भी तो नहीं है। आदमी जाए, तो तमीज़ से जाये, वर्ना न जाये।"

"क्यों? तुम्हारे पास फिरोज़ी रङ्ग की जो साड़ी है, वह तो तुम्हें बहुत ही भली लगती है।"

"एक साड़ी है, उसे ही बार बार पहनकर अब जी भी उकता गया है। सब कहेंगी कि इसके पास ले-देके यही एक साड़ी है, दिन-रात उसे ही पहने फिरती है। कई स्त्रियाँ नोक-झोंक भी कर देती हैं। उस समय मन की जो अवस्था होती है उसे मन ही जानता है। दूसरा कोई क्या जाने?"

"तो फिर क्या विचार है?"

"अच्छा तो यह है कि ना कर दीजिए, मैं न जाऊँगी।"

"नई साड़ी ही न ला दूँ?"

"व्यर्थ खर्च करने में क्या धरा है। दूसरों के मुँह से वाह वाह सुनने के लिए अपना घर लुटा देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। आदमी को सोचना समझना चाहिए।"

सम्भव है, अगर रामप्यारी हठ करती तो इन्हीं शब्दों में चमनलाल उसे उपदेश सुनाने लगते, मगर उसके अपने मुंह से यह शब्द सुनकर उनको तीर-सा लगा। अपनी निर्धनता पर क्रोध आया, प्रारब्ध को सैकड़ों गालियाँ दे डालीं और दुःखी होकर इधर-उधर टहलने लगे। कुछ देर के बाद बोले,—"प्रिये! तुम्हारा वहाँ जाना ज़रूरी है।"

रामप्यारी ने सुई में तागा डालते डालते कहा,—"मुझसे अपमान न सहा जायगा।"

"तुम्हारा अपमान नहीं होगा।"

"वह कैसे?"

"मैं कल नई साड़ी लेता आऊँगा।"

"कितने की आयेगी ?"

"पच्चीस रुपये तक काम बन जायगा।"

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भरकर कहा—"मेरे पास तो सवा आठ आने के सिवा एक पैसा भी नहीं। यह पच्चीस रुपये कहाँ से आयेंगे।"

चमनलाल ने स्त्री के पास चारपाई पर बैठकर उसकी कमर में हाथ डाला और हंसकर कहा,—"कोई परवा नहीं। मेरा बटुआ भरा हुआ है। पच्चीस रुपये निकल आयेंगे।"

"झूठ।"

"नहीं सच।"

"दिखाओ तो......।"

यह कहते हुए रामप्यारी ने पति की जेब से बटुआ खींच लिया और उसे खोलकर देखा, तो आश्चर्य्य से उछल पड़ी। उसमें दो गिन्नियाँ थीं। जैसे अबोध बालक नये खिलौने को देखकर प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही गिन्नियों को देखकर रामप्यारी को हर्ष हुआ। मुख पर प्रसन्नता लहराने लगी। हँसकर बोली, "ये कहाँ मिलीं ?"

चमनलाल कुछ देर चुप रहे। जब वे दफ्तर को जाने लगते थे, तो रामप्यारी उनकी जेब में दोपहर को कुछ खाने-पीने के लिए चार आने पैसे डाल दिया करती थी। वे उन्हें बचा-बचा कर रखते रहे। ये दो गिन्नियाँ उनकी चार मास की मितव्ययिता का फल थीं। उन्होंने मन ही मन में सोचा, ठीक बात बतानी चाहिए या नहीं। आखिर में यही निश्चय किया कि झूठ न बोलना चाहिए। रामप्यारी ने फिर पूछा,—"ये कहाँ मिलीं ? अभी महीना चढ़ने में तो एक सप्ताह बाक़ी है। इसलिए तन्खाह तो मिल नहीं सकती।"

चमनलाल ने कहा,—"तुम मुझें खाने-पीने के लिए हर रोज़ क्या दिया करती हो ? बताओ !"

"चार आने हर रोज़।"

"ये चार मास की वही चवन्नियाँ हैं, जो आज दो गिन्नियाँ बन गई हैं।"

रामप्यारी को किसी ने सहस्रों मीलों की ऊँचाई से धक्का दे दिया। अपनी फ़जूल खरची उसकी दृष्टि में आज तक मामूली बात थी। परन्तु पति की मितव्ययिता के सामने उसको अपने अनर्थ के रूप का अनुभव हुआ। सोचने लगी, ये कमाते हैं, परन्तु पैसा पैसा सँभालकर रखते हैं। मैं घर में बैठी राज करती हूँ, पर रुपयों को ऐसा समझती हूँ, मानों मिट्टी के ढेले हों। वह रोती हुई पति के चरणों से लिपट गई और बोली,—"तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मैं एक पैसा भी व्यर्थ न खर्च करूँगी। ये गिन्नियाँ सँभालकर रक्खो, मुझे नई साड़ी की ज़रूरत नहीं। न मैं पार्टियों में जाना चाहती हूँ। मैंने भर पाया।"

परन्तु चमनलाल ने कहा,—"इतना व्यर्थ खर्च तुम करती रही हो, एक बार मुझे भी कर लेने दो। एक बार में हम ग़रीब न हो जाएंगे।"

(३)

दूसरे दिन जब दफ्तर बन्द हुआ, तो चमनलाल सीधे बज़ाज़ की दुकान पर पहुँचे और बोले,—"कोई अच्छी-सी रेशमी साड़ी दिखाओ।"

"क्या रङ्ग हो?"

"नसवारी, जोगिया, कबूतरी।"

बज़ाज़ ने साड़ियों का ढेर लगा दिया। चमनलाल घबरा गये कि कौन सी पसन्द करें। बहुत समय तक उलट पलटकर देखते रहे। कभी एक को पसन्द करते, कभी दूसरी को। सोचते, कैसी भूल की। रामप्यारी को साथ लाते, तो यह कष्ट न होता, अपनी पसन्द की चीज़ ले जाती। स्त्रियों और पुरुषों की पसन्द में भूमि-आकाश का अन्तर है। अन्त में एक साड़ी आँखों में जँची। उसे हाथ में लेकर बोले,—"इसका मोल बताइए। यही पसन्द आती है।"

बज़ाज़ ने साड़ी को हाथ में लेकर उसे जाँचा और जवाब दिया,—

'बाज़ार में यह साड़ी तीस रुपये में बिक रही है, पर आपसे पच्चीस ही ले लूँगा।"

चमनलाल को अगर मूल्य तीस रुपये बताया जाता, तो वह कहते, पच्चीस लीजिए, परन्तु बजाज़ के अपने मुख से वही मूल्य सुनकर उन्होंने उत्तर दिया,—"पच्चीस अधिक हैं।'

"आपकी दूकान है, उठाकर ले जाइए। अगर कोई दूसरा दूकानदार ऐसी चीज़ पौने पच्चीस में दे जाय, तो मैं आपसे एक कौड़ी भी न लूँगा। मुफ्त भेंट कर दूँगा।"

चमनलाल पर यह मन्त्र चल गया, रुपये फेंककर बोले,—"अगर पसन्द न आई, तो वापस कर दी जायगी। यह ख़याल रखिएगा।"

दूकानदार को क्या एतराज़ था, बोला,—"बड़ी ख़ुशी से। घर की बात है।"

चमनलाल साड़ी लेकर चले, तो हृदय आनन्द के मद से मतवाला हो रहा था और पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। परन्तु बाजार से बाहर निकले, तो हृदय बैठ गया, घड़ी ने सात बजा दिये। उड़ते हुए गाड़ियों के अड्डे पर पहुँचे कि कोई टमटम मिल जाय, तो उसी पर बैठ जायँ। परन्तु वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। चमनलाल का कलेजा धड़कने लगा। आनन्द में आदमी की सबसे बड़ी इच्छा यह होती है कि पर लग जायँ तो उड़कर घर पहुँच जाये। चमनलाल को टमटम भी न मिली। निराश होकर जमादार से बोले,—"इच्छरे की कोई टमटम मिल जायगी या सब चली गईं?"

"ज़रा ठहरिए, तो मिल जायगी।"

सूखे धान में पानी पड़ गया, चमनलाल का बोझ उतरा। लालटेन के पास जाकर चाव के साथ साड़ी को देखकर मन ही मन में प्रसन्न होने लगे। अचानक कान में आवाज़ आई,—"कोई इच्छरे की सवारी?"

चमनलाल ने चौंककर आँख उठाई और टमटम की तरफ़ बढ़े। परन्तु वहाँ तक पहुँचने न पाये थे कि चार आदमी टमटम पर सवार

हो गये। चमनलाल के पाँव भूमि में गड़ गये। मगर फिर ख़याल आया, रात का समय है, देखता कौन है? उचककर सवार हो गये और बोले—"ज़रा जल्दी चलो भाई! देर हो गई है।"

कोचवान ने जवाब दिया,—"बाबू साहब! अब तो सवारियाँ पूरी हो चुकी हैं।"

"कोई बात नहीं, रात का समय है। कौन देखता है।"

"जो किसी ने पकड़ लिया, तो आप छुड़ा लेंगे?"

चमनलाल ने बेपरवा होकर जवाब दिया,—"छुड़ा लूँगा।"

टमटमवाले ने यह समझा कि यह कोई उच्च अधिकारी है, इसे अपने ऊपर भरोसा है। उधर चमनलाल का विचार था कि इस समय कोई नहीं रोकेगा। परन्तु चौक में पहुँचते ही सिपाही ने डाँटकर कहा—"ठहर जाओ। कितनी सवारियाँ हैं तुम्हारी टमटम पर?"

टमटमवाले का हृदय सहम गया। उसने चमनलाल से कहा—"बाबू साहब। वही बात हुई।"

चमनलाल ने देखा कि विपत्ति सिर पर आ गई, कोरे से होकर बोले—"थोड़ी मिन्नत-ख़ुशामद कर दो, तुम्हें फाँसी थोड़ा ही दे देगा। कह दो भूल हो गई।"

टमटमवाले की आँखें खुल गईं। उसे यह आशा नहीं थी कि चमनलाल इस प्रकार आँखें बदल लेंगे। वह काँपता हुआ टमटम से उतरा और पोलीसमैन के सामने हाथ जोड़कर बोला,—"सरकार! माफ़ करें, फिर कभी ऐसी भूल न होगी।"

परन्तु पोलीसमैन ने न आँसुओं को देखा औन न मिन्नत को सुना। उसने लपककर उसके सिर से नम्बर उतार लिया, और कहा,—"कल कचहरी आना। वहाँ बात करेंगे।"

कोचवान उदास होकर टमटम पर चढ़ा और घोड़े को चाबुक लगाकर बोला,—"बाब साहब! आपने यह ज़ुल्म किया है। जुर्माना हो जायगा।"

परन्तु चमनलाल चुप साधे रहे। यह चुप्पी बेचारे कोचवान के

हृदय के घाव पर नमक छिड़क गई। सहानुभूति के दो शब्द शायद उसपर मरहम का काम दे जाते। इच्छरे पहुँचे तो वह मन में चमनलाल को हज़ारों गालियाँ दे रहा था, परन्तु चमनलाल घरवाली को साड़ी दिखाने के चाव में मस्त थे। उनको बेचारे कोचवान की परपा न थी। लपकते हुए घर चले गये।

(४)

दूसरे दिन कोचवान का मुक़द्दमा मैजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। मैजिस्ट्रेट की प्रकृति बड़ी कठोर थी; क्रोध से बोला,—"टुम पाँच सवारी क्यों बैठाया।"

कोचवान ने हाथ बाँधकर और आँखों में आँसू भर कर उत्तर दिया,—"सरकार! अब माफ़ कर दें, फिर कभी ग़लती न होगी, ग़रीब आदमी हूँ।"

"लेकिन क़ानून के माफ़िक क्यों नहीं चला? अब रोने माँगटा। हम क्या कर सकटा?"

"हुज़ूर माई-बाप हैं। यह पहली भूल है, माफ़ कर दें। सारी उमर दुआ देता रहूँगा।"

"हूँ।"

"सरकार सच कहता हूँ, फिर ऐसी खता न होगी। अबकी माफ़ कर दें। ग़रीब आदमी हूँ, जुर्माना न दे सकूँगा। जुर्माना हो गया, तो मर जाऊँगा सरकार! अबकी बख़्श दें।"

मगर मजिस्ट्रेट को ज़रा रहम न आया। उसने कुछ देर विचार किया और पच्चीस रुपये जुर्माना कर दिया। कोचवान के पास रुपये न थे, इसलिए हवालात में डाल दिया गया।

घर में उसकी स्त्री ने यह सुना, तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी। कुछ देर बाद सुध आई, तो लाला संसारचन्द के पास पहुँची और सहायता के लिए प्रार्थना की। उसका पति उसी की टमटम ठेके पर चलाया करता था। परन्तु उसने किसी तरह की सहायता न की। तब वह निराश होकर वापस लौटी। अगर चमनलाल के यहाँ चली जाती, तो

वह उसका जुर्माना भर देता, परन्तु उसे विश्वास न आता था कि इसमें सफलता होगी। इसपर उसने चमनलाल को हज़ारों गालियाँ दे डालीं। स्त्री क्रोध में हो, तो बफरी हुई शेरनी बन जाती है। अगर उस समय चमनलाल उसके हाथ आ जाते तो वह उनका पेट चीर देती, परन्तु विवश थी। विवश मनुष्य का मुँह बहुत चलता है। उसने भी गालियाँ देकर क्रोध उतारा और बच्चों को गोद में लेकर रोने लगी। यह स्त्री का आख़िरी हथियार है।

इधर कोचवान हवालात में बन्द था, उधर चमनलाल बुख़ार में बेहोश पड़े थे। रामप्यारी की आँखों से आँसू बह रहे थे। वह ओषधि पर ओषधि दे रही थी, परन्तु रोग में कमी न होती थी। एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गये, तीन दिन बीत गये, शरीर तन्दूर के समान तप रहा था, रोग घटने का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। रामप्यारी मिन्नतें मान रही थी, हनूमान् के नाम लड्डू देने का प्रण कर रही थी और बार-बार हाथ लगाकर देखती थी, परन्तु बुख़ार कम न होता था। देह तपती थी।

तीसरे पहर का समय था। रामप्यारी चमनलाल के सिरहाने बैठी उसके मुँह की तरफ़ ताक रही थी कि उन्होंने आँखें खोल दीं और कहा,—रामप्यारी!"

रामप्यारी का मुँह चमकने लगा, रोम-रोम में आनन्द की लहर दौड़ गई। नीचे झुककर बोली,—"क्यों? क्या हाल है अब? जी कैसा है?"

"करमदीन बोदीबाला कोचवान है। उसे पच्चीस रुपये जुर्माना हुआ है। वह मुझे होना चाहिए था।"

"आपको क्यों?"

"मैं ज़बरदस्ती उसकी टमटम पर चढ़ बैठा था। यह मेरा दोष है, उसका नहीं।"

"फिर।"

"उसे रुपये दे दो।"

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भरकर जवाब दिया,—"रुपये कहाँ हैं मेरे पास ?"

चमनलाल सुध में न थे, बोले,—"बटुए में दो गिन्नियाँ हैं। वही दे दो।"

रामप्यारी के हृदय में बाण सा लगा। वह करमदीन के क़ैद होने की घटना सुन चुकी थी। मगर इस घटना का उसके पति से सम्बन्ध है, इसका उसे पता न था। पति के मुँह से अपराध-स्वीकृति सुनकर उसे विश्वास हो गया कि चमनलाल को ठण्डी आहों ने बुख़ार चढ़ा दिया है, दवा से न उतरेगा। उसके लिए दुआ की ज़रूरत है। वह घबराई हुई उठी और पड़ोसिन के पास जाकर बोली,—"बहन तेरे पास पच्चीस रुपये हैं ? मैं पहली को लौटा दूँगी।"

पड़ोसिन के पास रुपयों का घाटा न था, परन्तु उसने देना उचित न समझा, मुँह बनाकर बोली,—"नहीं, मेरे पास नहीं। होते, तो तुमसे क्या फ़र्क़ है।"

रामप्यारी के हृदय को इस उत्तर से बड़ा आघात पहुँचा। यही पड़ोसिन थी, जिसे उसने कई रुपये की मिठाई खिला दी थी। परन्तु समय पर वह इस तरह आँखें चुरा लेगी इसकी उसे ज़रा आशा न थी। उसके कोरे उत्तर ने रामप्यारी की आँखें खोल दीं। पिछले निरर्थक ख़र्च उसके सामने मूर्तिमान् हो गये। सोचा, अगर बचाकर रखती, समझ-सोचकर ख़र्च करती पैसे को पैसा जानती, तो पच्चीस रुपयों के लिए आज हाथ न पसारना पड़ता। इस पड़ोसिन का घरवाला, जिसके रुपये सूद पर चढ़े रहते हैं, पचास रुपया मासिक कमाता है। मेरे यहाँ सौ रुपये से अधिक की आय है, परन्तु हाथ में पैसा नहीं। उन्होंने सैकड़ों बार समझाया, और सोच-विचार कर ख़र्च करने का उपदेश किया, रामप्यारी के मन में यह बात न बैठी थी। परन्तु इस मामूली-सी घटना ने उसके मन में हलचल मचा दी। जो काम घड़ों जल से नहीं हो सकता, उसे क्वाथ के दो घूँट कर देते हैं। जो काम तलवार से नहीं होता, उसे काँटा कर देता है।

(५)

रामप्यारी रोती हुई उठी और अपनी नई साड़ी लेकर ताँगे में बैठ गई और शहर को चली। बजाज़ के पास जाकर बोली,—"यह साड़ी ले लो, मुझे पसन्द नहीं।"

बजाज़ को उनका बहुत लिहाज़ था। उसने नम्रता से कहा,—"कोई और दिखाऊँ ?"

रामप्यारी साड़ी को नापसन्द होने के कारण नहीं, बल्कि ज़रूरत के कारण लौटा रही थी। मगर इस बात को बजाज़ भाँप गया तो कदाचित् न लौटाये, इस विचार से उसने उत्तर दिया,—"दिखाओ। पर बढ़िया चीज़ हो।"

बजाज़ ने कई साड़ियाँ दिखाईं, परन्तु रामप्यारी ने सबमें कोई न कोई दोष निकाल दिया। बजाज़ ने हार कर रुपये लौटा दिये। उन रुपयों को हाथ में लेते समय रामप्यारी को यह मालूम हुआ, कि वह पति का स्वास्थ्य ख़रीद रही है। यह साड़ी ख़रीदते समय वह प्रसन्न हुई थी, वापस करते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई। आज उसकी दुनिया बदल गई थी। आज उसका दृष्टिकोण बदल गया था।

सायंकाल हो गया था। रामप्यारी इच्छरे पहुँची और उड़ती हुई करमदीन कोचवान के घर गई। किवाड़ बन्द थे। रामप्यारी अपराधिन की भाँति सिर झुकाकर खड़ी हो गई और सोचने लगी,—"किवाड़ क्योंकर खुलवाऊँ।" इतने में अन्दर से आवाज़ आई,—"अल्लाह! उसका बेड़ा ग़र्क कर। मेरा आदमी कैद में है और वह घर में पड़ा है। उसका सत्यानास कर। जिसका क़सूर है; अल्लाह उसको जवानी की मौत दे। मेरा शौहर बेक़सूर है, उसे क़ैद से छुड़ा।"

रामप्यारी अब न सह सकी। उसने ज़ोर से साँकल हिलाई। कोचवान की बीबी ने किवाड़ खोल दिया। रामप्यारी का विचार था कि उसकी गालियों का उत्तर दे और उसका मुँह ज़ोर से बन्द कर दे। परन्तु उसकी जिह्वा को किसी ने पकड़ लिया और पाँव भूमि में गाड़ दिये। तसवीर बनकर रह गई।

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भरकर जवाब दिया,—"रुपये कहाँ हैं मेरे पास ?"

चमनलाल सुध में न थे, बोले,—"बटुए में दो गिन्नियाँ हैं। वही दे दो।"

रामप्यारी के हृदय में बाण सा लगा। वह करमदीन के क़ैद होने की घटना सुन चुकी थी। मगर इस घटना का उसके पति से सम्बन्ध है, इसका उसे पता न था। पति के मुँह से अपराध-स्वीकृति सुनकर उसे विश्वास हो गया कि चमनलाल को ठण्डी आहों ने बुख़ार चढ़ा दिया है, दवा से न उतरेगा। उसके लिए दुआ की ज़रूरत है। वह घबराई हुई उठी और पड़ोसिन के पास जाकर बोली,—"बहन तेरे पास पचीस रुपये हैं ? मैं पहली को लौटा दूँगी।"

पड़ोसिन के पास रुपयों का घाटा न था, परन्तु उसने देना उचित न समझा, मुँह बनाकर बोली,—"नहीं, मेरे पास नहीं। होते, तो तुमसे क्या फ़र्क़ है।"

रामप्यारी के हृदय को इस उत्तर से बड़ा आघात पहुँचा। यही पड़ोसिन थी, जिसे उसने कई रुपये की मिठाई खिला दी थी। परन्तु समय पर वह इस तरह आँखें चुरा लेगी इसकी उसे ज़रा आशा न थी। उसके कोरे उत्तर ने रामप्यारी की आँखें खोल दीं। पिछले निरर्थक ख़र्च उसके सामने मूर्तिमान् हो गये। सोचा, अगर बचाकर रखती, समझ-सोचकर ख़र्च करती पैसे को पैसा जानती, तो पचीस रुपयों के लिए आज हाथ न पसारना पड़ता। इस पड़ोसिन का घरवाला, जिसके रुपये सूद पर चढ़े रहते हैं, पचास रुपया मासिक कमाता है। मेरे यहाँ सौ रुपये से अधिक की आय है, परन्तु हाथ में पैसा नहीं। उन्होंने सैकड़ों बार समझाया, और सोच-विचार कर ख़र्च करने का उपदेश किया, रामप्यारी के मन में यह बात न बैठी थी। परन्तु इस मामूली-सी घटना ने उसके मन में हलचल मचा दी। जो काम घड़ों जल से नहीं हो सकता, उसे क्वाथ के दो घूँट कर देते हैं। जो काम तलवार से नहीं होता, उसे काँटा कर देता है।

(५)

रामप्यारी रोती हुई उठी और अपनी नई साड़ी लेकर ताँगे में बैठ गई और शहर को चली। बज़ाज़ के पास जाकर बोली,—"यह साड़ी ले लो, मुझे पसन्द नहीं।"

बज़ाज़ को उनका बहुत लिहाज़ था। उसने नम्रता से कहा,—"कोई और दिखाऊँ ?"

रामप्यारी साड़ी को नापसन्द होने के कारण नहीं, बल्कि ज़रूरत के कारण लौटा रही थी। मगर इस बात को बज़ाज़ भाँप गया तो कदाचित् न लौटाये, इस विचार से उसने उत्तर दिया,—"दिखाओ। पर बढ़िया चीज़ हो।"

बज़ाज़ ने कई साड़ियाँ दिखाईं, परन्तु रामप्यारी ने सबमें कोई न कोई दोष निकाल दिया। बज़ाज़ ने हार कर रुपये लौटा दिये। उन रुपयों को हाथ में लेते समय रामप्यारी को यह मालूम हुआ, कि वह पति का स्वास्थ्य ख़रीद रही है। यह साड़ी ख़रीदते समय वह प्रसन्न हुई थी, वापस करते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई। आज उसकी दुनिया बदल गई थी। आज उसका दृष्टिकोण बदल गया था।

सायंकाल हो गया था। रामप्यारी इच्छरे पहुँची और उड़ती हुई करमदीन कोचवान के घर गई। किवाड़ बन्द थे। रामप्यारी अपराधिन की भाँति सिर झुकाकर खड़ी हो गई और सोचने लगी,—"किवाड़ क्योंकर खुलवाऊँ।" इतने में अन्दर से आवाज़ आई,—"अल्लाह! उसका बेड़ा ग़र्क़ कर। मेरा आदमी क़ैद में है और वह घर में पड़ा है। उसका सत्यानास कर। जिसका क़सूर है; अल्लाह उसको जवानी की मौत दे। मेरा शौहर बेक़सूर है, उसे क़ैद से छुड़ा।"

रामप्यारी अब न सह सकी। उसने ज़ोर से साँकल हिलाई। कोचवान की बीबी ने किवाड़ खोल दिया। रामप्यारी का विचार था कि उसकी गालियों का उत्तर दे और उसका मुँह ज़ोर से बन्द कर दे। परन्तु उसकी जिह्वा को किसी ने पकड़ लिया और पाँव भूमि में गाड़ दिये। तसवीर बनकर रह गई।

कोचवान की स्त्री ने देखा, कोई भले घर की सुन्दरी सामने खड़ी है। वह घबराकर बोली,—"आप किसे पूछती हैं यहाँ ?"

रामप्यारी को बातचीत का रास्ता मिल गया। उसने धीरे से उत्तर दिया,—"तुम्हें पूछती हूँ।"

"मुझे ?"

"हाँ हाँ, मैं तुम्हें ही पूछती हूँ। मैं तुम्हारी अपराधिन हूँ। मैं क्षमा माँगने आई हूँ।"

कोचवान की स्त्री ने हैरान-सी होकर पूछा,—"साफ़ साफ़ कहें। आपका मतलब क्या है ?"

"तुम अभी अभी गालियाँ किसे दे रही थीं।"

"लाला चमनलाल को। उसने मेरे घरवाले को क़ैद करा दिया है। तुम उनकी कौन हो ?"

"मैं उनकी स्त्री हूँ।"

कोचवान की स्त्री हैरान-सी खड़ी रह गई और नम्रता-पूर्वक विनय-भाव के साथ बोली,—"मेरा मन बहुत दुखी है, मेरी ज़बान मेरे काबू में नहीं। जाने क्या क्या बक गई।"

जब क्रोध नम्रता का रूप धारण कर लेता है तो अभिमान भी सिर झुका लेता है। रामप्यारी ने हाथ जोड़कर कहा,—"गालियाँ उनको न दो, मुझे दो। यह मेरा अपराध है। यदि मैं सीधी राह चलती, यदि मैं सोच-समझकर, उचितानुचित देखकर खर्च करती, तो आज उनकी यह दशा न होती। मख़मली स्लीपरों के बिना मुझे ही चैन न पड़ता था। फलों के बिना मुझे ही रोटी न पचती थी। रेशम का थान मेरे लिए ही मँगवाया गया था। साड़ी मेरे लिए ही आई थी। तुम्हारी अपराधिन मैं ही हूँ। तुम्हारे शाप मेरे नाम पर पड़ने चाहिए। तुम्हारी आवाज़ मेरे विरुद्ध उठनी चाहिए। वे चाहते थे कि तुम्हारे पति का जुर्माना आप अदा कर दें, परन्तु व्यर्थ के खर्च रास्ते में बाधक हुए, तुम मुझको कोसो, मुझे शाप दो, तुम्हारी अपराधिन मैं हूँ। मेरा पति बेकसूर है।"

कोचवान की स्त्री ने सिर झुकाकर उत्तर दिया,—"मेरी ज़बान में कीड़े पड़ जायँ, ये बातें क्यों कहीं? पर रानी! देख लो, मेरे घर का सारा असबाब पचीस रुपये का भी नहीं, वर्ना तन के कपड़े बेचकर भी उनको छुड़ा लाती। तुम नहीं जानतीं, हमने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। पर आज पैसे पैसे को लाचार हैं। जबसे वे हवालात में हैं, हमारे चूल्हे में आग नहीं जली। रात-दिन रोते रोते कटती है। और जानती हो, जहाँ आग होगी, वहाँ से शोले ही उठेंगे। आग में सरदी कहाँ? आग में मिठास कहाँ?"

रामप्यारी ने दुपट्टे के अञ्चल से रुपये खोले और कोचवान की स्त्री के हाथ में रख दिये। इस समय उसका मन आनन्द से नाच रहा था, जैसे सूरज की सुनहरी किरणें पानी पर नाचती हैं। उसने अच्छे से अच्छे खाने खाये थे, बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहने थे, धनवान् स्त्रियों से मिली थी, परन्तु ऐसा अध्यात्मिक आनन्द, ऐसा सच्चा सुख उसे आज पहली ही बार अनुभव हुआ। वह आनन्द से केले के पत्ते की तरह काँपने लगी। इस समय उसने एक नेकी की थी। इस समय उसने एक ग़रीब की सहायता की थी।

कोचवान की स्त्री कृतज्ञता के भाव से रामप्यारी के चरणों में गिर पड़ी और रोती हुई बोली,—"मुझे माफ़ करो। मैंने तुम्हें बहुत दुख दिया है।"

रामप्यारी ने उसे उठकर अपने गले से लगा लिया और कहा,—"उनको तीन दिन से अपने तन की भी सुध नहीं। उनके लिए दुआ करो। इससे उनका बुखार उतर जायगा।"

कोचवान की स्त्री घुटनों के बल झुक गई और अपने दोनों हाथ ऊँचे उठाकर बोली,—"अल्लाह! उसे राज़ी कर। अल्लाह! इसके कलेजे को ठण्ढक दे।"

रामप्यारी ने यह सुना, तो ख़ुश हो गई। उसे विश्वास हो गया, कि चमनलाल का बुख़ार उतरने में अब देर नहीं। वह भागी भागी घर पहुँची। परन्तु आशीष उससे पहले पहुँच चुकी थी। चमनलाल

का बुख़ार हलका हो गया था और वे धीरे धीरे अपनी बेटी से बातें कर रहे थे। रामप्यारी को देखकर बोले,—"साड़ी हाथ से गई।"

"परन्तु उसके बदले में ऐसी शिक्षा मिली है जो जीवन भर न भूलेगी। और यह शिक्षा साधारण नहीं। इसके सामने बड़े से बड़ा आभूषण भी तुच्छ है। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। मगर अब आपका हाल क्या है ?"

"अच्छा हूँ।"

और दूसरे दिन उनका बुख़ार उतर गया।

पाप-परिणाम

(१)

रात के दो बजे साधु अपने गर्म बिस्तरे से उठा, और नदी के किनारे पर जाकर खड़ा हो गया।

चारों ओर अन्धकार था। आकाश में तारे आँखें मींचते थे। किसी तरफ़ से कोई हल्की-सी भी आवाज़ न सुनाई देती थी। संसार और उसका कोलाहल इस शून्य अन्धकार में इस तरह डूब चुके थे, जिस तरह कोई नौका अपने यात्रियों समेत समुद्र की गरजती हुई लहरों में समा जाय। साधु के पाँवों की चाप दूर-दूर तक सुनाई दे रही थी, मानों प्रकृति की निस्तब्धता उस साधु के कुसमय के हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु जिस तरह साधु ने मनोहर स्वप्नों से भरे हुए गर्म बिस्तर और उसके शोभा-मय सुख तथा विश्राम का विचार न किया था, उसी तरह प्रकृति की इस मौन-भञ्जक चीख़-पुकार की परवा न की, और अपनी कुटिया से निकलकर नदी-किनारे पहुँच गया।

पानी बहुत ठण्डा था, जैसे किसी बेपरवा नौकर ने अपने शराबी मालिक के बार बार कहने से तङ्ग आकर थोड़े से पानी में बहुत-सी बर्फ़ डाल दी हो। साधु ने उसकी ओर देखा और उसका हृदय डर गया। उसने बैठकर पानी में हाथ डाला और काँपकर पीछे हटा लिया। मालूम होता था, नदी भी इस हस्तक्षेप को सहन न करती थी। उसने अपनी सम्पूर्ण बर्फ़ानी ताकत की परीक्षा साधु के हाथ पर की, और परिणाम देखने के लिए ठहर गई। मगर साधु पर इसका कोई असर न हुआ। उसने अपनी काली कमली शरीर से उतारी और आँखें बन्द करके पानी में कूद पड़ा।

साधु पर बेहोशी की-सी दशा छा गई, वह पानी की तरङ्गों के साथ-साथ इस तरह बहने लगा जैसे कोई अपराधी सिपाहियों से घिरा

हुआ थाने को जा रहा हो। एकाएक वह अपने पाँव नदी के जल से भी अधिक ठण्डी रेत पर जमाकर खड़ा हो गया, और अपने शरीर तथा आत्मा का पूरा बल लगाकर तट पर जा चढ़ा। इस समय उसके चेहरे पर आनन्द बरसता था। अपराधी सिपाहियों के घेरे से बाहर निकल आया था। सिपाही देखते थे, और कुछ कर न सकते थे।

थोड़ी देर के बाद वह अपनी कुटिया में वापस आ गया, और अपने बिस्तर के पास खड़ा होकर उसको बेकसी और बेबसी की दृष्टि से देखने लगा, जैसे कोई भूख का मारा ग़रीब धनवान आदमी को अच्छे-अच्छे खाने खाते देखकर व्याकुल हो जाता है, पर इसके सिवा कुछ नहीं कर सकता कि अपनी बेबसी पर सन्तोष करे। यहाँ उसने अपनी कमली फिर उतार दी और कोने से एक कोड़ा उठाकर उसे अपनी देह पर पूरे ज़ोर से मारने लगा। उस समय अगर उसे कोई देखता, तो यही समझता, कि वह पागल है। मगर वह पागल न था, अपने इलाके का सबसे समझदार साधु था।

वायुमण्डल उसके करुण-क्रन्दन से गूँज रहा था। मगर वह अपनी देह पर उसी ज़ोर से कोड़े बरसा रहा था, मानों उसका हाथ उसके शरीर का एक अङ्ग न रहा हो, और वह किसी आदमी पर नहीं, किन्तु निर्जीव मांस-पिण्ड पर अपने बल की परीक्षा कर रहा हो।

× × × × ×

जब प्रभात का चाँदना हुआ, तो लोगों ने देखा कि साधु अपनी कुटिया के ठण्डे फ़र्श पर बेहोश पड़ा है और उसके कई अंगों से खून बह रहा है। उन्होंने आग जलाई और उसके ठण्डे शरीर को कम्बल में लपेटकर उसके नज़दीक रख दिया। जब दो-तीन घण्टे बीत गये तब उसने आँखें खोलीं, चारों तरफ़ देखा, और ठंडी साँस भरकर उठ बैठा।

परन्तु अब उसमें वह धीरज न था। उसकी जगह सिसकियों और हिचकियों ने ले ली थी। कुछ देर बाद जब उसके आँसू रुके तब उसने अपने हाथ आग पर गर्म करते हुए चपना हाल यूं कहना शुरू किया—

(२)

पचास साल बीते, जब मैंने ग़रीबी की दशा में संसार के संग्राम-क्षेत्र में पाँव रक्खा। उस समय न हमारी जरूरतें इतनी अधिक थीं, न जीवन-सामग्री इतनी मँहगी। पचास-साठ रुपये कमानेवाला आदमी राजा समझा जाता था। तुम विश्वास न करोगे, मगर मैंने अपनी आँखों से ऐसे आदमियों को देखा है जो सिर्फ़ पन्द्रह-बीस रुपये कमाते थे, और दस-बारह आदमियों के कुटुम्ब का पालन करते थे, और ग़रीबी से नहीं, बड़े राजसी ठाठ से। अब ये बातें सुपना हो गई हैं। लोग इनपर विश्वास नहीं करते। रुपये का मूल्य चवन्नी भी नहीं रहा। उस समय लोग ग़रीब न रहे हों, सो नहीं है। मैं ख़ुद ग़रीब था, ऐसा ग़रीब कि कई-कई दिन अन्न के बिना बीत जाते थे। मैंने कई जगहों पर नौकरी का यत्न किया, मगर कहीं सफलता न हुई। छोटा काम करने को जी न चाहता था। लोक-लाज पावों की ज़ञ्जीर बन जाती थी। परन्तु जब कई महीने ख़ाली बैठे बीत गये तब लज्जा दूर हो गई। मैंने मिठाई का ख़ोन्चा लगा लिया। काम छोटा था, मुनाफ़ा बड़ा था। थोड़े ही दिनों में हालत बदल गई। सुख से दिन कटने लगे, यहाँ तक कि मेरे पास डेढ़ सौ रुपया नगद जमा था। मैं फूला न समाता था।

इतने रुपये आज-कल के समय में कुछ नहीं के बराबर हैं। परन्तु उस समय लोग इतने रुपये को एक भारी रक़म समझते थे। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न था। ऐसा प्रसन्न फिरता था, जैसे किसी को पटवारगिरी मिल गई हो। हँसने की बात नहीं, पटवारी का पद उस समय ऐसा भारी पद था जैसी आज-कल डिप्टी कमिश्नरी भी नहीं। मेरे दिन अच्छे थे, दो मेहनती आदमियों से भेंट हो गई। उन्होंने कहा, क्या मज़दूरी कर रहे हो, हमारे साथ मिलकर व्यापार करो तो थोड़े दिनों में सोना हो जाओ। लक्ष्मी व्यापार में बसती है, नौकरी और मज़दूरी में नहीं बसती।

बात साधारण थी, परन्तु मेरे दिल में शौक़ पैदा हो गया।

हिकमतराय ने मेरे पास सरककर भेदभरी आँख से कहा,—“अस्सी हज़ार रुपये के लगभग ले जायगा।”

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कुँए में धकेल दिया हो। कलेजा ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। कहा,—“बिलकुल बेवकूफ़ आदमी है, सारा काम हम दोनों करते रहे हैं। हिस्सा वह भी बराबर का ले जायगा।”

“इसमें क्या शक है।”

“मेरा बस चले, तो उसे कौड़ी न दूँ।”

“तबाही मचा देगा। पानी पीना मुश्किल कर देगा। अदालत में घसीटकर ले जायेगा।”

“क्या कोई उपाय नहीं?”

हिकमतराय ने आकाश की ओर देखकर कहा,—“परमात्मा उसे मौत दे, तो हमारा काम बन जाय।”

जिस तरह साँप का ज़हर देखते-देखते आदमी के शरीर में फैल जाता है, उसी तरह ये शब्द मेरे मस्तिष्क में घूम गये। सोचने लगा, क्या उसे मौत नहीं आ सकती? दो दिन इसी उधेड़-बुन में बीत गये। तीसरे दिन पता लगा कि प्रभुदास बीमार है। मैं ज़मीन से उछल पड़ा। आशा-लता लहलहाती दिखाई देने लगी। हिकमतराय से सलाह करके भागा-भागा डाक्टर के पास गया। देर तक एकान्त में बातें होती रहीं, परन्तु डाक्टर मानता न था। मैं हारे हुए जुआरियों की नाईं रुपये बढ़ाता जाता था, यहाँ तक कि पाँच हज़ार पर बात पक्की हो गई और उसने प्रभुदास की दवा में एक खास तरह का चूर्ण मिला दिया। उस समय मैं ऐसा .खुश था जैसे किसी को रियासत मिल गई हो। प्रभुदास रात को मर गया। उसने अभी तक ब्याह न किया था, न उसका कोई निकट-सम्बन्धी था। एक दूर के सम्बन्धी ने दावा करके हिस्सा लेने की धमकी दी। परन्तु हमने कह दिया कि वह हमारा नौकर था, हिस्सेदार न था मेहरबानी के तौर पर हमने उसे कुछ रुपये भी दे दिये। इन रुपयों ने उसका मुँह बन्द कर दिया। प्रभुदास का

रुपया आधा मैंने ले लिया, आधा हिकमतराय ने। उस समय मुझे ज़रा भी ख़याल न आया कि यह पाप है। मगर आज उसकी याद ही से शरीर और आत्मा दोनों काँप जाते हैं।

(४)

उन दिनों मेरा व्याह हो चुका था, मगर सन्तान कोई न थी। हम दोनों पति-पत्नी पुत्र का मुख देखने को तरसते थे। कभी साधुओं के यहाँ जाते, कभी वैद्यों की औषधियाँ खाते कभी जादू-टोने करते, परन्तु इनसे कुछ बनता न था। जब रुपया बँट चुका, तो मैंने स्त्री को लेकर हरद्वार की यात्रा की और दो-तीन महीने वहीं टिका रहा। उस समय मुझे विचार आता था कि मैंने पाप किया है, मुझे सुख न मिलेगा। इस विचार से मेरा हृदय व्याकुल हो जाता था, पहरों परेशान रहता था, ठण्डी आहें भरता था, आँखों में आँसू भर आते थे। यही चाहता था; कि यदि सम्भव हो तो बीता हुआ समय लौटा लूँ। परन्तु यह असम्भव था। बीता हुआ समय और मुँह से निकला हुआ शब्द कब वापस आया है। तब मैं इस विचार को मन से भुला देने का यत्न करता था, और साधु-सन्तों की सेवा करके अपने विचार के अनुसार पाप के कलङ्क को धो देता था। यदि मुझे उस समय यह ज्ञान होता कि यह काम इतना सुगम नहीं जितना कि मैं समझ रहा हूँ, तो मैं कभी बेपरवाई न करता।

मगर मुझे अपने पाप का दण्ड न मिला, बल्कि उसी वर्ष मेरे यहाँ एक पुत्र हो गया। मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरे पाँव भूमि पर न पड़ते थे, सोचता था, मेरे जैसा भागवान कौन होगा? धन और सुन्दर स्त्री पहले ही से प्राप्त थे, अब सन्तान भी मिल गई। संसार इन्हीं तीन चीज़ों पर मरता है, मेरे पास तीनों थीं। अपना कारोबार आरम्भ किया, उसमें भी कामयाबी हुई। अब पाप की याद भी न रही। संसार की क्षणिक सफलताओं और थोड़े दिन के सुखों ने उसे आँख से ओझल कर दिया। पुण्यकर्म संसार का प्रकाश है, यह विचार झूठा सिद्ध हुआ। संसार में पाप फलता है यह बात साबित हो गई।

ज्यों ज्यों बेटा बड़ा होता गया, ख़ुशी अपनी चादर फैलाती गई। पहले उसकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर किया गया, बाद में स्कूल भेज दिया। तुमसे क्या कहूँ, वह कैसा प्यारा और सरल-हृदय था। उसके चेहरे पर भोलापन खेलता था, आँखों में सादगी नाचती थी। जो देखता कहता, बड़ा भाग्यवान् लड़का है। माता-पिता का नाम करेगा। मैं यह सुनता, तो आनन्द में झूमने लगता। परन्तु कभी-कभी किसी अज्ञात भय से हृदय पर बोझ सा आ पड़ता, जैसा कोई कलेजे पर पत्थर-सा रख दे, जैसे कोई सिर पर बोझ रख दे।

इसी प्रकार बीस वर्ष बीत गये। बंशीलाल ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और लॉ कालेज में पढ़ने लगा। मैं यह देखता था, और प्रसन्न होता था। सोचता था, एक दो वर्ष की बात है, बंशीलाल वकील हो जायगा। उसके बाद जजी मिलना कुछ कठिन नहीं। इस विचार से मेरा हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। उन दिनों की आज भी याद करता हूँ, तो आँखों से लहू के आँसू बहने लगते हैं। मेरा जीवन चाँदनी रात के समान था, जिसमें नाच और रंग रलियाँ हो रही हों। सहसा यह मधुर संगीत करुण-विलाप में बदल गया—मेरी स्त्री को बुख़ार आने लगा। यह बुख़ार कोई असाधारण ज्वर न था। सावधानी से इलाज होने लगा। मगर एक महीना बीत गया बुख़ार न उतरा। दूसरा और तीसरा महीना भी इसी तरह बीत गया, और आराम न हुआ। अब मुझे भी चिन्ता हुई। लाहौर ले जाकर इलाज कराने का विचार किया। उन दिनों पंजाब में डाक्टर हैनरी वुड का बड़ा नाम था, उसे दिखाया। उसने बड़े ध्यान से देखा, और मुझसे एकान्त में कहा—"तपेदिक़ है, अब न बचेगी। दिल कड़ा कर लो।"

यह सुनकर मेरे हाथों के तोते उड़ गये। ऐसा मालूम हुआ, जैसे आकाश सिर पर गिर पड़ेगा। डाक्टर की बात का विश्वास न हुआ। आश्चर्य से बोला—"तपेदिक़ है क्या?"

"हाँ तपेदिक़। शायद बच जाय, नुसख़ा लिखे देता हूँ। मगर कोई आशा नहीं।"

मैंने पूछा—"किसी पहाड़ पर ले जाऊँ तो कैसा हो ?"

"ज़िन्दगी ज़रा लम्बी हो सकती है, मगर बीमारी न जायगी। मेरा यही ख्याल है !"

"डाक्टर साहब ! आपसे जो कुछ हो सकता है, कीजिए। इसे किसी तरह बचाइए। रुपये की परवा न कीजिए। आप जो माँगेंगे, मैं भेंट करूँगा।"

मेरी आँखों में आँसू थे, शब्दों में हृदय की व्यथा। डाक्टर साहब ने करुणापूर्वक कहा—"मैं अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश करूँगा, मगर आप यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर न होने दें। यह ख़तरनाक है।"

परन्तु यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर हो गई। पता नहीं किस तरह ? एक दिन मुझसे रोते रोते कहा,—"मेरे मरने में अब अधिक दिन नहीं। अब बंशी का ब्याह कर दो, यह तो अपनी आँखों से देख लूँ। यह मेरी साध है।"

और मैंने उसकी यह साध पूरी कर दी। उसी महीने बंशी का ब्याह हो गया। इसके बाद हम सब सोलन चले गये। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती। मुझे आशा थी, वह बच जायगी।

(५)

मगर वह न बची। छः मास के बाद उसका जीवन-प्रदीप निर्दयी मौत के निष्ठुर झोकों ने बुझा दिया। मुझपर आफ़त टूट पड़ी। और बंशी की दशा तो देखी न जाती थी। किसी ब्याहे हुए लड़के को अपनी माता से इतना प्रेम हो सकता है, यह मेरे लिए नया अनुभव था। वह फूट-फूटकर रोता था। मैं उसे समझाता था, चुप कराता था, धीरज देता था, परन्तु उसका रोना कम न होता था। उसका उदास मुख देखकर मुझे अपना दुःख भूल जाता था। मुझे कोई ऐसा दिन याद नहीं जब बंशी मा को याद करके न रोया हो। कभी वह पुस्तकों का कीड़ा था, परन्तु अब पुस्तक देखने को उसका जी न चाहता था। हारमोनियम का चस्का था, वह भी न रहा। सैर का शौक़ था, वह भी छूट गई। दिन-रात उदास रहने लगा। मेरे हृदय में नई चिन्ता

उत्पन्न हुई। मैंने उसका जी बहलाने का हर एक यत्न किया, परन्तु मुझे किसी में भी सफलता न हुई। लोग अपने पुत्रों के विषय में शिकायत किया करते हैं कि उन्हें माता-पिता से स्नेह नहीं। मैं चाहता था कि कदाचित् बंशीलाल में यह दोष होता तो ये दिन देख न पड़ते। परन्तु जो ललाट में लिखा है उसे कौन मिटा सकता है। बंशीलाल भी बीमार रहने लगा।

इतने में मालूम हुआ, मेरा कारोबार नष्ट हो गया है। जिस कारिंदे के हाथ मैंने काम-काज सौंप रक्खा था उसने मुझे धोखा दिया और दो-अढ़ाई लाख रुपया उड़ाकर भाग निकला। यह देखकर मेरे पाँवों-तले की मिट्टी निकल गई। बंशीलाल और उसकी स्त्री को सोलन छोड़कर जेहलम पहुँचा, परन्तु वह कारिंदा कहाँ था? समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिये, पुलिस में रिपोर्ट कीं, परन्तु वह न पकड़ा जा सका, न डूबा हुआ रुपया बचा। मैंने कारोबार को सँभालने का असीम प्रयत्न किया, परन्तु वह न सँभला। दिन पर दिन दशा बिगड़ती गई। जिस काम में हाथ डालता था, उसी में हानि हो जाती थी। मुनाफ़ा किसी में न होता था! कभी वह दिन थे, हर काम में मुनाफ़ा होता था, नुक़सान किसी में न था—अब भाग्य का पासा पलट चुका था।

चार महीने बीत गये, और बंशीलाल और उसकी स्त्री सोलन से आये। उसका मुँह देखकर मेरे प्राण होठों तक आ गये। मैं डाक्टर नहीं, न मैंने चिकित्सा का कोई ग्रन्थ देखा है। परन्तु मैंने अपनी स्त्री की बीमारी देखी थी। मुझे बंशीलाल के मुख पर वही रंग दिखाई दिये, जो मेरी मृत-पत्नी के मुख पर थे। मेरे कलेजे पर किसी ने अङ्गारे रख दिये। मैंने बंशीलाल से कुछ न कहा, परन्तु अपने कमरे में जाकर रात भर रोता रहा। दूसरे दिन डाक्टर को दिखाया। मेरी आँख फड़कने लगी—मा के बाद पुत्र की बारी थी। फिर तपेदिक़। मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। परन्तु मैंने निश्चय कर लिया कि अपनी बची-खुची सारी सम्पत्ति लुटा दूँगा। डाक्टर की सम्मति पर अक्षरशः चलूँगा, सावधानी में कोई कसर न उठा रक्खूँगा, और इस तरह पुत्र को मृत्यु के पंजे से छुड़ा

लूँगा। मैं वंशी और उसकी स्त्री को लेकर सोलन चला गया। परन्तु रोग कुछ कम न हुआ। डाक्टरों ने सम्मति दी कि उसे स्विटज़रलैंड के सैनिटोरियम में ले जाओ, वहाँ जाकर बच सकता है। मेरे पास पन्द्रह हज़ार के लगभग रुपया बच रहा था। यह रुपया मुझे बहुत प्यारा था, परन्तु बंसीलाल इस रुपये से भी प्यारा था, मैंने उसे स्विटज़रलैंड भेज दिया।

वह वहाँ दो वर्ष रहा। वहाँ उसका स्वास्थ्य बहुत कुछ अच्छा हो गया। यहाँ तक कि मेडिकल-बोर्ड ने फ़ैसला दे दिया कि उसे अब कोई बीमारी नहीं है। इस सूचना से मेरे आनन्द का पारावार न रहा, सारा दिन नाचता फिरता था। वंशीलाल ने अपना फ़ोटो भी भेजा था। उससे देख पड़ता था कि पहले की अपेक्षा उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरा भी भर गया था। अब मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि वह कब वापस आये और मैं उसे पितृ-स्नेह से गले लगाऊँ। परन्तु जब वह दिन आया तब मेरी आशाओं पर ओस पड़ गई। वंशीलाल हिन्दुस्तान आ गया, परन्तु अपना स्वास्थ्य वहीं छोड़ आया। यदि मेरे पास और रुपया होता, तो मैं रुपये का मुँह न देखता। परन्तु मेरी अवस्था दिन पर दिन गिर रही थी। मैंने अपनी ओर से पूरा पूरा यत्न किया कि कहीं से रुपया मिल जाय तो वंशी को फिर स्विटज़र-लैंड भेज दूँ, परन्तु सफलता न हुई। वंशीलाल स्विटज़रलैंड न जा सका।

(६)

छः महीने बीत गये।

प्रातःकाल था। मैं बंशीलाल के पास बैठा उसके मुँह की तरफ़ देख रहा था। आज उसकी अवस्था बहुत बिगड़ रही थी। न मुँह पर लाली थी, न आँखों में चमक। उनके स्थान पर लाश की सी ज़र्दी छा गई थी। मैं यह देखता था और रोता था। उस समय मेरा सारा जीवन मेरी आँखों के सामने था। वे दिन याद आ गये जब मैंने मिठाई का खोन्चा छोड़कर व्यापार आरम्भ किया था। पास धन न था, परन्तु

हृदय में शांति का वास था। अब वे दिन कहाँ थे ? मैंने जेब में हाथ डालकर देखा, तो उस समय मेरे पास केवल डेढ़ सौ रुपये थे। मैं चौंक पड़ा। भूली हुई घटनायें आँखों-तले फिर गईं। इतने ही रुपयों से मैंने व्यापार आरम्भ किया था। उस समय न स्त्री थी, न पुत्र। क्या परमात्मा मुझे आज उसी स्थान पर फेंकने का प्रबन्ध कर रहा है। स्त्री पहले जा चुकी थी, बेटा अब जा रहा था।

एकाएक बंशीलाल ने ज़ोर से अँगड़ाई ली, और चारपाई पर तड़पने लगा। मैंने हृदय को अन्तिम चोट के लिए तैयार किया, और उठकर मरनेवाले के ऊपर झुक गया। वह जान तोड़ रहा था। मैंने भर्राई हुई आवाज़ से कहा, "बंशी !"

बंशी ने बेहोशी में उत्तर दिया,—"हाँ ।"

"होश में आओ बेटा !"

"हाँ होश में हूँ ।"

मगर मैं जानता था, कि वह होश में नहीं है। मैंने पूछा—

"मैं कौन हूँ ।"

बंशीलाल ने मेरी तरफ़ अच्छी तरह देखा और तब कहा,—"तुम मेरे भाईवाल हो ।"

यदि मेरे गले में साँप लिपट जाता तो भी मुझे ऐसा आश्चर्य न होता जैसा इस उत्तर से हुआ। हृदय पर घोर आतङ्क सा छा गया, जैसे किसी ने फाँसी के तख़्ते पर चढ़ा दिया हो। परन्तु मुझे फिर विचार आया, बंशी बेसुध है, यों ही बड़बड़ा रहा है, इसलिए मैंने पूछा—

"बंशी ।"

"हाँ"

अब स्वर अधिक स्पष्ट था।

"यह कौन है ?"

इशारा उसकी स्त्री की तरफ़ था।

बंशी ने अपनी पथराई हुई आँखें अपनी स्त्री की तरफ़ उठाईं और कहा—"डाक्टर!"

"तुम कौन हो?"

"प्रभुदास!"

सन्देह निश्चय बन गया। मैं खड़ा न रह सका। मेरे शरीर की शक्ति पृथ्वी ने खींच ली। पाप का परिणाम ऐसा दुःखदायक होगा यह आशा न थी। मेरा किया कराया सामने आ गया।

मैंने पुनर्जन्म की कथायें सुनी थीं, परन्तु उनपर विश्वास न आता था। इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

बंशी मर गया। मेरी आँखों में आँसू न थे। उन्हें पापों की अग्नि ने सुखा दिया था। मैंने उसका दाह-संस्कार किया और जेहलम से निकल आया। उसके बाद मैंनें आज तक वहाँ पाँव नहीं रक्खा।

अब मैं हर रोज़ अपने शरीर को कष्ट देता हूँ, काड़े मारता हूँ, और हर एक मनुष्य को यह कहानी सुनाता हूँ, और फिर लोगों के सामने सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे सिर पर पाँच पाँच जूते लगा दो। शायद इसी से मेरा पाप धुल जाय।

यह कहते कहते साधु ने अपना सिर नीचे झुका दिया।

अलबम

(१)

पंडित शादीराम ने ठंडी आह भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा ?

वह ग़रीब थे, परन्तु दिल के बुरे न थे। वह चाहते थे कि चाहे जिस तरह भी हो, अपने यमराज—लाला सदानंद—का रुपया अदा कर दें उनके लिए एक-एक पैसा मोहर के बराबर था। अपना पेट काटकर बचाते थे, मगर जब चार पैसे इकट्ठे हो जाते, तो कोई ऐसा ख़र्च निकल आता कि सारा रुपया उड़ जाता। शादीराम के हृदय पर बर्छियाँ चल जाती थीं। उनका वही हाल होता था, जो उस डूबते हुए आदमी का होता है, जो हाथ-पाँव मारकर किनारे पहुँचे, और किनारा टूट जाये, और वह फिर पानी में ग़ोते खाने लगे। उस समय उसकी दशा कैसी करुणा-जनक, कैसी हृदय-वेधक होती है ? वह प्रारब्ध को गालियाँ देने लगता है। वह अपने आपको कोसने बैठ जाता है। यही दशा शादीराम की थी।

इसी तरह कई साल बीत गये, शादीराम ने पैसा-पैसा बचाकर अस्सी रुपये जोड़ लिये। उन्हें लाला सदानंद के पाँच सौ रुपये देने थे। इस अस्सी रुपये की रक़म से ऋण उतरने का समय निकट आता प्रतीत हुआ। आशा धोखा दे रही थी। एकाएक उनका छोटा लड़का बीमार हुआ, और लगातार चार महीने बीमार रहकर मरते मरते बचा। पैसा-पैसा करके बचाये हुए रुपये दवा-दारू में उड़ गये। पंडित शादी-राम ने सिर पीट लिया। अब चारों ओर फिर अन्धकार था! उसमें प्रकाश की हलकी-सी किरण भी दिखाई न देती थी। उन्होंने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा ?

लाला सदानंद अपने पुरोहित की बेबसी को जानते थे, और न

चाहते थे कि वह रुपये देने का प्रयत्न करें। उन्हें इस रक़म की रत्ती-भर भी परवा न थी। उन्होंने इसके लिए कभी तगादा तक नहीं किया, न कभी शादीराम से इस विषय की बात छेड़ी। इस बात से वह इतना डरते थे, मानों रुपये स्वयं उन्हीं को देने हों। मगर शादीराम के दिल में शान्ति न थी। प्रायः सोचा करते थे कि यह कैसे भलेमानस हैं, जो अपनी रक़म के बारे में मुझसे बात तक नहीं करते? ख़ैर, यह कुछ नहीं करते, सो ठीक है, परंतु इसका तात्पर्य यह थोड़े ही है कि मैं भी निश्चिंत हो जाऊँ। मेरी तरफ़ रुपया निकलता है, मुझे देना चाहिए।

उन्हें लाला सदानंद के सामने सिर उठाने का साहस न था। उसे ऋण के बोझ ने नीचे झुका दिया था। यदि लाला सदानंद ऐसी सज्जनता न दिखलाते, और शादीराम को बार-बार तगादा करके तंग करते, तो उन्हें ऐसा मानसिक कष्ट न होता। हम अत्याचार का सामना सिर उठाकर कर सकते हैं; परन्तु भलमनसी के सामने आँखें नहीं उठतीं। बन्दी बलवान होकर भी बलवान नहीं है।

एक दिन लाला सदानन्द किसी काम से पंडित शादीराम के घर गये और उनकी आल्मारी में कई सौ बँगला, हिन्दी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं की मासिक पत्रिकायें देखकर बोले—"यह क्या है पंडितजी?

पंडित शादीराम ने पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेदते हुए उत्तर दिया—"पुरानी पत्रिकायें हैं। बड़े भाई को पढ़ने का बड़ा चाव था, वह प्रायः मँगवाते रहते थे। जब जीते थे, तो किसी को हाथ न लगाने देते थे। अब इन्हें कीड़े खा रहे हैं। कोई पूछता भी नहीं।"

"रद्दी में क्यों नहीं बेच देते?"

"इनमें चित्र हैं। जब कभी बच्चे रोने लगते हैं, तो एक-आध निकालकर दे देता हूँ। इससे उनके आँसू थम जाते हैं। इसलिए रद्दी में नहीं बेचता।"

लाला सदानंद ने आगे बढ़कर कहा—"दो-चार परचे दिखाओ तो ज़रा, देखें, कैसे चित्र हैं?"

पंडित शादीराम ने कुछ परचे दिखाये। हर-एक परचे में कई-कई

सुन्दर और रंगीन चित्र थे। लाला सदानंद कुछ देर तक उलट-पुलट-कर देखते रहे। सहसा उनके हृदय में एक विचित्र विचार उठा। चौंककर बोले—"पंडितजी!" पंडितजी ने उनकी तरफ़ देखा, और मुस्कराकर बोले—"कहिए, क्या बात है?"

"ये चित्र कला-सौन्दर्य के अति उत्तम नमूने हैं। अगर किसी शौक़ीन को पसन्द आ जायँ, तो हज़ार दो हज़ार रुपये बड़ी आसानी से कमा सकते हो।"

पण्डित शादीराम ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा—

"ऐसे भाग्य होते, तो यों धक्के न खाता फिरता।"

लाला सदानन्द बोले—"एक काम करो।"

"क्या?"

"आज बैठकर इन पत्रिकाओं में जितनी अच्छी अच्छी तसवीरें हैं, सबको छाँटकर अलग कर लो।"

"बहुत अच्छा।"

"जब यह कर चुको, तो मुझे पता देना।"

"आप क्या करेंगे?"

"मैं इनका अलबम बनाऊँगा, और तुम्हारी तरफ से विज्ञापन दे दूँगा। हो सकता है, यह विज्ञापन किसी शौक़ीन के हाथ पड़ जाय, और तुम चार पैसे कमा लो। तसवीरें बहुत बढ़िया हैं।"

(२)

पण्डित शादीराम को यह आशा न थी कि कोयलों में हीरा मिल जायगा। घोर निराशा ने आशा के द्वार चारों ओर से बन्दकर दिये थे। वह उन हत-भाग्य मनुष्यों में से थे जो संसार में असफल और केवल असफल रहने के लिए पैदा होते हैं। सोने को हाथ लगाते थे, तो वह भी मिट्टी हो जाता था। सीधी बात भी करते, तो उलटी पड़ती। उनकी ऐसा धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास था कि यह प्रयत्न भी कभी सफल न होगा। परन्तु लाला सदानन्द के आग्रह से दिन भर बैठकर तसवीरें छाँटते रहे। न मन में लगन थी, न हृदय में चाव था, न सीने में उमंग थी।

परन्तु लाला सदादन्द की बात को टाल न सके। शाम को देखा, दो सौ एक-से-एक बढ़िया चित्र जमा हो गये हैं। उस समय वह उन्हें देखकर स्वयं उछल पड़े। उनके मुख पर आनन्द की आभा नाचने लगी। जैसे फेल हो जाने का विश्वास करके अपनी प्रारब्ध पर रो चुके विद्यार्थी को पास हो जाने का तार मिल गया हो। उस समय वह कैसा प्रसन्न होता है? चारों ओर कैसा विस्मित और प्रफुल्लित दृष्टि से देखता है? यही हाल पण्डित शादीराम का था। वह उन चित्रों की ओर इस तरह देखते थे, मानों उनमें से हर-एक दस-दस रुपये का नोट हो। बच्चों को उधर देखने न देते थे। वह सफलता के विचार से ही प्रसन्न हो रहे थे, यद्यपि वह अभी कोसों दूर थी। लाला सदानन्द की आशा उनके मस्तिष्क में निश्चय का रूप धारण कर चुकी थी। वे खुशी से झूमने लगे।

लाला सदानन्द ने चित्रों को अलबम में लगवाया, और कुछ उच्च कोटि के समाचार-पत्रों में विज्ञापन दे दिया। अब पण्डित शादीराम हर समय डाकिये की प्रतीक्षा करते रहते थे। रोज़ सोचते कि आज कोई चिट्ठी आयेगी। दिन बीत जाता, और कोई चिट्ठी न आती थी। रात को आशा सड़क की धूल की तरह बैठ जाती थी। मगर दूसरे दिन लाला सदानन्द की बातों से टूटी हुई आशा फिर बँध जाती थी, जिस तरह गाड़ियाँ चलने से पहले दिन की बैठी हुई धूल हवा में उड़ने लगती है। आशा फिर अपना चमकता हुआ मुँह दिखाकर दरवाज़े पर खड़ा कर देती थी। डाक का समय होता, तो बाज़ार में ले जाती और वहाँ से डाकख़ाने पहुँचाती थी। इसी तरह एक महीना बीत गया, मगर कोई पत्र न आया। पण्डित शादीराम बिलकुल निराश हो गये। मगर फिर भी कभी-कभी सफलता का विचार आ जाता था। अँधेरे में जुगनू चमक जाता है। यह जुगनू की चमक निराश हृदयों के लिए कैसी जीवनदायिनी, कैसी हृदयहारिणी होती है! इसके सहारे भूले हुए मुसाफिर मंजिल पर पहुँचने का प्रयत्न करते और कुछ देर के लिए अपना दुःख भूल जाते हैं। इस झूठी आशा के अन्दर सच्चा प्रकाश नहीं होता, मगर यह दूर के संगीत के समान मनोहर ज़रूर होती है।

इसमें वर्षा की नमी हो या न हो, परन्तु इससे काली घटा का जादू कौन छीन सकता है? पण्डित शादीराम ने आशा न छोड़ी या यों कहिए, आशा ने पण्डित शादीराम को न छोड़ा। दिन गुज़रते गये।

आख़िर एक दिन शादीराम के भाग्य जागे। कलकत्ते के एक मारवाड़ी सेठ ने पत्र लिखा कि अलबम भेज दो। अगर पसन्द आ गया तो ख़रीद लिया जायगा। मूल्य की कोई चिन्ता नहीं, चीज़ अच्छी होनी चाहिए। यह पत्र उस करवट के समान था, जो सोया हुआ आदमी जागने से पहले बदलता है और उसके बाद उठकर बिस्तरे पर बैठ जाता है। यह किसी आदमी की करवट न थी, किसी स्त्री की करवट न थी, यह भाग्य की करवट थी। पण्डित शादीराम दौड़े हुए लाला सदानन्द के पास पहुँचे, और उन्हें पत्र दिखाकर बोले—"आख़िर आज पत्र आ गया है, भेज दूँ अलबम?"

लाला सदानन्द ने पत्र को अच्छी तरह देखा, और जबाब दिया—"रजिस्टर्ड कराकर भेज दो। शौक़ीन आदमी मालूम होता है, ख़रीद लेगा।"

"और मूल्य?"

"लिख दो, एक हज़ार रुपये से कम पर सौदा न होगा।"

कुछ दिन बाद उन्हें जवाब में एक बीमा मिला। पण्डित शादीराम के हाथ-पैर काँपने लगे। मगर हाथ-पैरों से ज़्यादा उनका दिल काँप रहा था। उन्होंने जल्दी से लिफ़ाफ़ा खोला, और उछल पड़े। उसमें सौ-सौ रुपये के दस नोट थे। पहले उनके भाग्य ने करवट बदली थी, अब वह पूर्णरूप से उठकर बैठ गई। पण्डित शादीराम बैठे थे, खड़े हो गये। और सोचने लगे—अगर दो हज़ार रुपये लिख देता, तो शायद उतने ही मिल जाते। इस ख़्याल ने उनकी सारी खुशी किरकिरी कर दी। हलवा मीठा था, स्वादु भी था, मगर उससे एक कंकड़ निकल आया। मज़ा आधा रह गया।

(३)

सायंकाल को वह लाला सदानन्द के पास गये, और पाँच सौ

रुपये के नोट सामने रखकर बोले—"परमात्मा का धन्यवाद है कि मुझे इस भार से छुटकारा मिला। अपने रुपये सँभाल लीजिए। आपने जो दया और सज्जनता दिखलाई है, उसे मैं मरण-पर्यन्त न भूलूँगा।"

लाला सदानन्द ने हैरान-सा होकर पूछा—"पण्डितजी! क्या सेठ ने अलबम ख़रीद लिया?"

"जी हाँ ख़रीद लिया।"

"और रुपये भी आ गये?"

"जी हाँ, रुपये भी आ गये।"

"एक हज़ार?"

"जी हाँ। नहीं तो मुझ ग़रीब ब्राह्मण के पास क्या था, जो आपका ऋण चुका देता, परमात्मा ने मेरी सुन ली।"

"मैं पहले भी कहना चाहता था; परन्तु कहते हुए हिचकिचाता था कि आपके हृदय को कहीं ठेस न पहुँचे। पर अब मुझे यह भय नहीं है; क्योंकि रुपये आपके हाथ में हैं। मेरा विचार है कि आप ये रुपये अपने ही पास रक्खें। मैं आपका यजमान हूँ। मेरा धर्म है कि आपकी सेवा करूँ। अगर मैंने चार पैसे दे दिये, तो कौन-सा गज़ब हो गया।"

पण्डितजी की आँखों में आँसू आ गये, दुपट्टे से पोंछते हुए बोले—"आप-जैसे सज्जन संसार में बहुत थोड़े हैं। परमात्मा आपको चिरञ्जवी रक्खें, मगर अब तो मैं ये रुपये न लूँगा। इतने वर्ष आपने माँगे तक नहीं, यह उपकार कोई थोड़ा नहीं है। मुझे इससे उऋण होने दीजिए। ये पाँच सौ रुपये देकर मैं हृदय की शान्ति ख़रीद लूँगा।"

ग़रीब ब्राह्मण की यह उदारता और सच्चरित्रता देखकर सदानन्द का मनोमयूर नाचने लगा। उन्होंने नोट ले लिये। मनुष्य रुपये देकर भी ऐसा प्रसन्न हो सकता है, इसका अनुभव उन्हें पहली ही बार हुआ। पण्डितजी के चले जाने पर उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं, और किसी विचार में मग्न हो गये। इस समय उनके मुख-मण्डल पर एक ख़ास आत्मिक तेज था, जो इस संसार में कभी कभी दिखाई देता है।

(४)

छः मास बीत गये।

लाला सदानन्द बीमार थे। ऐसे बीमार वह सारी उमर में न हुए थे। पण्डित शादीराम उनके लिए दिन-रात माला फेरा करते थे। वह वैद्य न थे, डाक्टर न थे, हकीम न थे। वह ब्राह्मण थे, उनकी ओषधि माला फेरना ही थी, और यह काम वह अपनी आत्मा की पूरी शक्ति, अपने मन की पूरी श्रद्धा से करते थे। उन्हें ओषधि की अपेक्षा आशीर्वाद और प्रार्थना पर अधिक भरोसा था। सोचते थे, दवा से दुआ अच्छी है।

एक दिन लाला सदानन्द चारपाई पर लेटे थे। उनके पास उनकी बूढ़ी माँ उनके दुर्बल और पीले मुख को देख-देखकर अपनी आँखों के आँसू अन्दर-ही-अन्दर पी रही थी। थोड़ी दूर पर, एक कोने में, उनकी नवोढ़ा स्त्री घूँघट निकाले खड़ी थी, और देख रही थी कि कोई काम ऐसा तो नहीं, जो रह गया हो। पास पड़ी हुई एक चौकी पर पण्डित शादीराम बैठे रोगी को भगवद्गीता सुना रहे थे।

एकाएक लाला सदानन्द बेसुध हो गये।

पण्डितजी ने गीता छोड़ दी, और उठकर उनके सिरहाने बैठ गये। स्त्री गर्म दूध लेने के लिए बाहर दौड़ी, और माँ अपने बेटे को घबराकर आवाज़ें देने लगी। इस समय पण्डितजी को रोगी के सिरहाने के नीचे कोई कड़ी-सी चीज़ चुभती हुई जान पड़ी। उन्होंने नीचे हाथ डालकर देखा, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही! यह सख़्त चीज वही अलबम था जिसे किसी सेठ ने नहीं, बल्कि स्वयं लाला सदानन्द ने खरीद लिया था। मगर शादीराम को बताया न था। न उन्हें सन्देह होने दिया था।

पण्डित शादीराम इस विचार से बहुत प्रसन्न थे कि उन्होंने सदानंद का ऋण उतार दिया है। मगर यह जानकर उनके हृदय पर चोट-सी लगी कि ऋण उतरा नहीं; बल्कि पहले से दूना हो गया है। पहले पाँच सौ था, अब एक हज़ार हो गया है।

उन्होंने अपने बेसुध यजमान के पास बैठे-बैठे एक ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—"क्या यह ऋण कभी न उतरेगा ?"

कुछ देर के वाद लाला सदानन्द को होश आया। उन्होंने पण्डितजी से अलबम छीन लिया, और धीरे से कहा—"यह अलबम सेठ साहब से अब मैंने मँगवा लिया है।"

पण्डितजी जानते थे कि यजमानजी झूठ बोल रहे हैं। परन्तु वह उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक सज्जन, अधिक उपकारी और अधिक ऊँचा समझने लगे थे। वह यह न कह सके, कि आप झूठ बोल रहे हैं। उनमें यह हिम्मत ही न थी। वे चुपचाप माला फेरने लगे।

कवि की स्त्री

(१)

सत्यवान—

बचपन में मैं और मणिराम साथ ही साथ पढ़े थे। उस समय हम एक दूसरे पर जान देते थे। बचपन के दिन थे, जबतक एक दूसरे को देख न लेते, शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। बाद में प्रेम का स्थान वैर ने ले लिया, दोनों एक दूसरे के लहू के प्यासे हो गये। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के बाद हमारे रास्ते अलग अलग हो गये। मणिराम मेडिकल-कालेज में भर्ती हो गया। मैंने साहित्य-संसार में पाँव रक्खा। मुझे रुपये-पैसे की परवा न थी, पूर्वजों की सम्पत्ति ने इस तरफ़ से निश्चिंत कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में लवलीन रहता और कई कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार रहती थी। एक-एक पद पर घण्टों ख़र्च हो जाते थे। अपनी रचना को देखकर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी-कभी मुझे अपनी कविता में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपकों का मज़ा आता था। परन्तु जब मेरी कवितायें पत्रों में निकलने लगीं, तो मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका प्रभाव न गया। यह प्रभाव प्रख्याति, कीर्ति और यश का प्रभाव था। थोड़े ही दिनों में मेरा नाम हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था। केवल बड़े-बड़े लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न आता था। अब कविता में भी उतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसी की भेंट होता था, अब वह जी-बहलाने की चीज़ हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता तो रङ्ग

बाँध देता था। साधारण विषय को भी लेता तो उसमें जान डाल देता था। लोग पढ़ते, तो उछल-उछल पड़ते।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोड़ता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेंट सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। इसके बाद फिर कभी उसका नाम पत्रों में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में आये दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते थे। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था, परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग उधर जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी तरफ़ देखता, तो घृणा से मुँह फेर लेता, जिस तरह मोटर में चढ़ा हुआ आदमी पैदल जानेवालों को घृणा से देखता है। कभी हम एक साथ पढ़ते थे, एक साथ लिखते थे। आज हमारी दुनियाएँ ही बदल गई थीं। आज हमारे रास्ते ही अलग-अलग हो गये थे। मैं मशहूर था, उसे कोई पूछता भी न था।

(२)

एक दिन एक पत्र आया। उसमें मेरी कविता और कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी और मुझे देश और जाति के लिए सम्मान और गौरव की चीज़ बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आते रहते थे, यह कोई नई बात न थी। मैं कभी-कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। मगर यह पत्र एक स्त्री की तरफ़ से था। हम पुरुषों की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलाङ्गी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता। और यह पत्र किसी साधारण स्त्री की तरफ़ से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षित लड़की सावित्री थी जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। उसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढ़ने की ज़रूरत न समझी थी। इस पत्र ने सब कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी

पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। पर हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक-एक शब्द पर रुकता था, और नये-नये शब्द ढूँढ़कर नये-नये विचार लेखनी के अर्पण करता जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी अयोग्यता को भी स्वीकार किया—आप मेरी प्रशंसा करती हैं, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में धरा ही क्या है? न कल्पना में कला है, न मज़मून में मिठास है, न भावों में भावुकता है। रस कविता का प्रधान अंग है, वह मेरी कविता से कोसों दूर है। हम कवि बन बैठते हैं, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँख की और सुननेवाली कान की ज़रूरत है, इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह भी एक ढङ्ग है। आदमी छोटा बनता है, ताकि दुनिया उसे बड़ा समझे।

कुछ दिन के पश्चात् इस पत्र का उत्तर आया—यह जो कुछ आपने लिखा है, आप जैसे महा-पुरुषों के योग्य ही है, परन्तु मैं तो आपको टेनिसन और वर्डस्वर्थ से बढ़कर समझती हूँ। आप कहते हैं कि आपकी कविता रस-हीन है, होगी। परन्तु मुझपर तो वह जादू कर देती है। घण्टों प्रेम-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खाना-पीना भूल जाता है। सोना हराम हो जाता है। जी चाहता है, आपकी लेखनी चूम लूँ।

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। और अन्तिम वाक्य ने तो हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोलकर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालों को आकाश पर चढ़ा देता है। मैंने भी सावित्री की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। लिखा—कारलाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं जो कविता लिख सकता है, बल्कि हर-एक आदमी जो कविता समझ सकता है, और उससे मज़ा ले सकता है, और उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छों-अच्छों को देखा

है, कविता के महत्त्व को नहीं समझ सकते। मगर तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य होता है। धन्य है मेरी भारतभूमि, जिसमें तुम जैसी देवियाँ खेलती हैं। तुम जैसी देवियाँ न हों तो हमारी हिम्मत कौन बढ़ाए? तुम जैसे जौहरी न हों, तो हमें मिट्टी से कौन उठाए?

मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़े थे, अच्छी-सी-अच्छी कविताएँ देखी थीं, परन्तु जो रस, जो स्वाद सावित्री के पत्रों में था वह किसी में न था। यही जी चाहता था कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ, और उनका जवाब देता रहूँ।

(३)

सावित्री—

निस्सन्देह वे मुझे चाहते हैं, वर्ना इस तरह तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा मालूम होता है, मानों मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनकी कविता से अधिक सरस हैं, पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी-कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—तुमने लिखा है कि चित्र भेज रही हूँ, मगर मुझे तो आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद हो, तो भेज दो, डाकखाने पर नालिश कर दूँ। मजबूरन मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा। उत्तर में उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे सुन्दर हैं! मुख पर राजकुमारों जैसा लावण्य झलकता है। मेरे हृदय को पहले ही चैन न था, चित्र ने रहा-सहा चैन भी छीन लिया। अब दिन को चैन नहीं आता, रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझपर खोल दिया है। 'प्रीतम से' कैसा प्यारा शीर्षक है! एक-एक अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहली कविता 'पाती निहारकर' भी मुझी पर लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे बदनाम करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे पल्ले

झाड़कर क्यों पड़ गये हो ? एक और कविता 'एकान्त में' प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँवारे हैं। तो मेरी...परन्तु वे इतना परिश्रम क्यों करते हैं ? बहुत पढ़ना-लिखना आदमी को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता लिखना बन्द कर दो और अपने शरीर की तरफ़ ध्यान दो, मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने उनके सम्बन्ध में सब कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी ही बिरादरी के हैं और कुँवारे हैं, और उनकी शराफ़त की लोग सौंगन्ध खाते हैं।

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रों और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'सङ्कोच', कोई 'बनावट' न थी—"तुम्हारे पत्रों से सन्तोष नहीं होता। जी चाहता है, तुम्हारे दर्शन हों, तो गिरकर तुम्हारे पैरों को चूम लूँ। अब और न तरसाओ। हर समय सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते-सोते चौंक पड़ती हूँ। सोचती हूँ, तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा ? रात को अधिक समय तक लिखते-पढ़ते तो नहीं रहते, इससे कविता कमज़ोर हो जाती है। ज्यादा देर जागते तो नहीं रहते, इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। मेरा जी डर जाता है। मुझे अपने चरणों की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया तो मैं ज़मीन से उछल पड़ी। वे मेरे साथ ब्याह करने को सहमत ही नहीं, बल्कि अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा, छोटा भाई प्रभाशङ्कर चित्रों का एक बण्डल लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य से पूछा—"प्रभा ? यह क्या है ?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देखकर इनमें से एक छाँट दो। हर-एक चित्र के साथ साथ एक पत्र है, उसे भी पढ़ जाना और अपना फ़ैसला जल्द देना।"

यह कहते-कहते प्रभा ने वह बण्डल मेरे हाथ में दे दिया, और आप तेज़ी से बाहर निकल गया।

मैंने बण्डल खोला। इसमें उन नौजवानों के फ़ोटो थे जो मेरे साथ ब्याह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते-मुस्कराते सबपर एक उचटती हुई दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई इञ्जीनियर, कोई डाक्टर था, कोई ठेकेदार। मगर मुझे कोई भी पसन्द न आया। मेरे अंतःकरण में एक ही मूर्ति के लिए स्थान था, और वहाँ पहले ही से एक मूर्ति विराजमान थी। मैंने फुर्ती से उठकर अपना सन्दूक़ खोला, और उसमें से उनका फ़ोटो निकालकर उसपर Passed शब्द लिखकर उसे बाबूजी के पास भेज दिया। वे दङ्ग रह गये। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं किसी लखपती का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे ग़रीब न थे, पर इतने अमीर भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको ख़रीद सकने की ताकत रखते थे। परन्तु प्रेम को अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है? बाबूजी मेरी इच्छा के अनुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला था। मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये ख़र्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। वे मेरी मरज़ी के विरुद्ध न जा सके। उन्होंने मेरी बात मान ली।

(४)

आख़िर जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुख़ार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डाक्टरों को तपेदिक का सन्देह है। यह बात सुनकर बाबूजी बड़े व्याकुल हैं। सदा उदास रहते हैं, जैसे कोई रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं अब इस विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं। परन्तु मैं इसकी परवा नहीं करती। संसार की आँखों में हम कुँवारे हैं, पर जब मन मिल गये, प्रेम की डोरी बँध गई, तो बाक़ी क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, वे मेरे हैं, और कोई रोग, कोई भय, कोई विचार मुझे उनसे अलग नहीं रख सकता।

यहाँ तक कि मौत में भी यह हिम्मत नहीं। सावित्री ने सत्यवान् को यमदूत के पञ्जे से छुड़ा लिया था, क्या मैं उन्हें रोग के मुख से न बचा सकूँगी ? मैं भी सावित्री हूँ। उसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मैं उसके कारनामे को आज फिर जिन्दा कर दिखाऊँगी। लोग सुनेंगे, हैरान होंगे, वाह-वाह करेंगे।

सायङ्काल हो गया था, बाबूजी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था, जिसमें कभी नागा न होता था। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे से बोली—"क्यों, आज आप क्लब नहीं गये ? जी तो अच्छा है आपका ?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

"आप उदास दिखाई देते हैं।"

बाबूजी ने कहा—"तुम्हें इससे क्या ?"

"आपका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

"कोई परवा नहीं।"

"आपका खाना आधा भी नहीं रहा।"

"मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डाक्टर को दिखाइए, रोग का बढ़ना अच्छा नहीं। इसे शुरू ही में क़ाबू कर लेना चाहिए।

"अब मेरा डाक्टर यमराज ही होगा।"

"बात क्या है आख़िर ?"

"बात यह है, कि अब मेरा जी जीने को नहीं चाहता। जीकर क्या करूँगा ?"

मेरी आँखों में आँसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आँसू उन्होंने देख लिये। बात-चीत का रङ्ग बदल गया, बोले—"सावित्री, मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है ? तुम क्यों रोती हो ?"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होंने मुझपर कोई बड़ा

अत्याचार किया हो, और कहा—"आप मेरे पिता हैं, क्या आप भी मेरे इन आँसुओं की बात नहीं समझते ? आपकी हर एक बात छिपी कटार है, हर-एक वचन जहर में बुझा हुआ तीर। आपके यार दोस्त हैं, काम-काज है, क्लब है। आप बाहर चले जाते हैं, मैं बैठी कर्मों को रोती हूँ। मैं लड़की हूँ, लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। मगर क्या करूँ ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ ? आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।" समय गुजरता जाता है, भविष्य बिगड़ता जाता है और आशा कम होती जाती है।

बाबूजी ने आतुर होकर कहा,—"परन्तु सावित्री ! देखकर मक्खी निगलना आसान नहीं। क्या तुझे विश्वास है कि वह तेरी सेवा-शुश्रूषा से अच्छा हो जायगा।"

"हाँ, मुझे विश्वास है कि मैं उन्हें बचा लूँगी। कवि बेपरवा होते हैं, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते हैं। मैं उन्हें जीवन के सारे झंझटों से निश्चिन्त कर दूँगी और घर का सारा काम आप सँभाल लूँगी। दिन-रात कविता लिखने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है। जिस पत्र को देखो उसी में उनकी कविता दिखाई देती है। मैं उनको इस काम से रोक दूँगी। कहूँगी, पहले अपने स्वास्थ्य की तरफ तो देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते हैं, खाया-पिया क्या तन लगेगा ? स्तुति करने को सभी हैं, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।"

बाबूजी पर मेरी इन बातों का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिए उनका मुँह बन्द हो गया। फिर बोले,—"यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बड़ा भेद है। मुझे सन्देह है कि जो कुछ तुम कह रही हो उसे कर भी सकोगी या नहीं। वे पूरे बेपरवा हैं, वे कभी परवा न करेंगे। तुम एक दिन समझाओगी, दो दिन समझाओगी, तीसरे दिन रो-धोकर बैठ जाओगी।

मेरा मुख लाल हो गया, जैसे भरे बाजार में सिर से दुपट्टा उतर

गया हो, फिर भी सँभलकर बोली—'मैं अपने वचनों की ज़िम्मेदारी से नावाकिफ़ नहीं। जो कुछ कहा है, करके दिखा दूँगी।"

"यह सब भावना की बातें हैं, जब समय आता है, तो धुएँ की नाईं उड़ जाती हैं।"

"मेरे विचार में संसार भावनाओं ही पर जीता है। भावना न हो, तो संसार चार दिनों में समाप्त हो जाये।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोड़ी देर सिर झुकाकर सोचते रहे। फिर एकाएक उठे और मुझसे कुछ कहे सुने बिना बाहर चले गये।

(५)

ब्याह हो गया। वह बात झूठ निकली। उन्हें कोई रोग न था। यह सब किसी की शरारत थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रों में ज्योति है, होंठों पर मुस्कराहट है। मुझे देखते ही तो कली की नाईं खिल जाते हैं। मैंने कई कवियों के चरित्र पढ़े हैं, और एक दोष सबमें देखा है। वह यह है कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है। वह बहुत ही शरमीले हैं, किसी पराई स्त्री के सामने आँख नहीं उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते हैं। मेरी कोई सहेली आ जाती है, तो उठकर अन्दर चले जाते हैं। मैं बहुतेरा समझाती हूँ, कहती हूँ, तुम मर्द हो, यदि स्त्री परदा नहीं करती तो, पुरुष क्यों करे। परन्तु वे हँसकर टाल देते हैं। मुझे उनपर पूरा पूरा विश्वास है। मैं समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आ सकती। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होंने अपने आपको मुझपर छोड़ दिया है। घर-बार का स्याह-सफ़ेद सब मेरे ही हाथ में है। कपड़े तक खुद नहीं बदलते। अगर मैं न कहूँ, तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है और उन्हें ध्यान भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गये हैं। उनके दूध का, फलों का, कमरे की सफ़ाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पड़ता है। सोचती हूँ, अगर मेरी

जगह कोई दूसरी बे-परवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती, तो क्या होता। घर में धूल उड़ने लगती। फ़र्श पर कीड़े रेंगने लगते। थोड़े ही दिनों में बीमार हो जाते। वे इतने बे-परवा हैं, कि उन्हें अपने दफ़्तर की सफ़ाई का भी ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ही ध्यान रखना पड़ता है। नौकर सिर चढ़ा रक्खे थे, पर अब सँभल गये हैं। ये निगोड़े आपसे आप तो कोई काम करते ही नहीं। जबतक सिर पर न खड़े रहो तबतक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। कभी-कभी मुझे उनपर क्रोध भी आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते। मैं चार दिन के लिए बाहर चली जाऊँ, तो घर नरक का नमूना बन जाये। जाने पहले कैसे अपनी देख-भाल करते थे।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा, ऐसे आलसी हो ?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो। सारी दुनिया जान जायेगी।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"उसमें से कुछ भाग तुम्हे भी तो मिलेगा।"

'मैं क्यों लेने लगूँगी। तुम हँसकर टाल देते हो। ज़रा सोचो तो सही, ऐसी बे-परवाई भी किस काम की ?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, मगर तुम अपने दफ़्तर की ओर तो ध्यान दिया करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिन्टेन्डेन्ट समझता हूँ।"

मैं रूठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था, चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर नाच रहा था। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं उनके दफ्तर की तरफ गई, तो दरवाज़े के साथ एक छोटा सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—

"सावित्री देवी, बी० ए०, सुपरिन्टेन्डेन्ट"

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा फेंका, और कहा,—"ये शरारतें देखकर लोग क्या कहेंगे ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा और मुस्कराकर भुजायें फैला दीं। मैं स्वर्ग में पहुँच गई।

(६)

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सबसे बढ़िया पोशाक पहनी और उनके पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे, थोड़ा घूम आयें। आज घर में जी नहीं लगता।"

वे उस समय कविता में मग्न थे, धीरे से बोले,—"इस समय बात न करो। बड़ी अजीब बात सूझी है, उसको प्रकट करने के लिए ठीक शब्द ढूँढ़ रहा हूँ, पर शब्द मिलते नहीं।"

मुझे जहर-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं, सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता कि मेरी किसी समय तो मान लिया करें। पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे, परन्तु अब तो इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकालकर रख देते हैं। मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है ? हर समय कविता, हर समय कविता !"

"इस कविता से साहित्य-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है या नहीं ?"

"यह अपने दिल से पूछो।"

"मैं दिल से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। ज़रा आँखें उठाकर उत्तर दो।"

"यह कविता देखकर फड़क उठोगी। ऐसी कविता मैंने आज तक नहीं लिखी। अजीब चीज़ है।"

मैंने हताश-सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, काग़ज़ छीनकर दावात तोड़ दूँ।"

"दावात काग़ज़ की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया कि इस समय जाओ, फिर काग़ज़ पर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा ध्यान नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली तो हृदय पर बोझ-सा पड़ा था। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था, सैर में जी न लगा। हार कर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते थे। विवाह हुआ, तो मेरे सुख-दुःख का भार एक कवि को सौंपा गया। मेरे आँसुओं को देखकर वह व्याकुल होने लगा। परन्तु अब इन आँसुओं को देखनेवाला, इनपर कलेजा मलनेवाला कोई भी न था। मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है और उसपर कोई मल्लाह नहीं है। मैं अपनी बेबसी पर कुढ़ती थी। कभी-कभी आँख उठाकर देख भी लेती थी कि कदाचित् आ रहे हों। प्रेम जल्दी निराश नहीं होता। पर वे न आये।

मेरी आँखें जल की ओर थीं, यदि कोई शक्ति मन्त्र-बल से मुझे जल की लहर बना दे, तो गङ्गा की लहरों में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गईं, निद्रादेवी ने इच्छा पूरी कर दी। मैं गङ्गा में गिर गई। बहुतेरे हाथ-पाँव मारे, पर निकल न सकी। प्रवाह में बहने लगी। मौत सामने आकर खड़ी हो गई।

सुध आई, तो मैं घर पर थी। वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डाक्टर बैठा था।

उन्होंने मुझे होश में देखकर कहा—"अच्छी बचीं, अब इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डाक्टर मणिराम हैं। आज-कल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। यह नदी में न कूद पड़ते, तो तुम्हारा बचाना असम्भव था।"

मैं धीरे से उठकर बैठ गई। साड़ी को सिरपर खींच लिया और डाक्टरसाहब की तरफ़ देखा, मगर आँखें मिल न सकीं। मैंने—"परमात्मा आपका भला करे" कहा और आँखें झुका लीं। परन्तु मेरे हृदय में हलचल मची हुई थी। मैं चाहती थी, ये उठकर चले जायँ। मेरा विचार था, इससे मेरा धीरज वापस आ जायगा। परन्तु जब वे चले गये, तो जान पड़ा, मैं भूल पर थी। व्याकुलता बढ़ गई। पानी की सैर को गई थी, आग ख़रीद लाई। भगवान् जाने कैसी पटे, कैसी न पटे। जी घबराने लगा।

(७)

मणिराम—

रात हुई, परन्तु मेरी आँखों में नींद न थी। उसे सावित्री की आँखों ने चुरा लिया था। उनमें कैसा आकर्षण था, कैसी बेबसी! जैसे कोई क़ैदी लोहे के जँगले के अन्दर से दुनिया को देखता है और आह मारकर ज़मीन पर बैठ जाता है। उसकी आँखें बार-बार मेरी ओर उठती थीं, मगर वह उन्हें उठने न देती थी, जिस तरह मा अपने अबोध बालक को पराये खिलौने पकड़ते देखकर गोद में उठा लेती है। उस समय बालक किस तरह मचलता है! कैसा अधीर होता है! चाहता है, कि मा छोड़ दे, तो खिलौना लेकर भाग जाये। यही दशा सावित्री की थी। सत्यवान वहीं डटा रहा। अगर दो मिनट के लिए भी टल जाता, तो जी भरकर देख लेता। कैसी सुन्दर है, बिलकुल चम्पा का फूल। देख-देखकर दिल नहीं भरता था। पर देखने की हिम्मत न थी।

दूसरे दिन दूकान को जा रहा था, तो उसे दरवाज़े पर खड़ी पाया। उसने मेरी ओर प्यासे नयनों से देखा और मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट बिजली थी, मेरा धैर्य जलकर भस्म हो गया। दूकान पर जी न लगा, सारा दिन साँझ की प्रतीक्षा करता रहा। पल-पल गिनते दिन समाप्त हुआ और मैं घर को वापस लौटा। पैर ज़मीन पर न पड़ते थे।

इस समय मैं बहुत प्रसन्न था, सत्यवान के मकान के पास पहुँचा, तो पैर आप से आप रुक गये, आँखें दरवाज़े पर जम गईं। सहसा वह अन्दर से निकली और दरवाज़े के साथ लगकर खड़ी हो गई। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु आँखों ने हृदय के पर्दे खोल दिये। इन आँखों में कैसा प्रेम था, कैसा कटाक्ष और उनके साथ स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मतवाला-सा हो गया और झूमता-झामता घर पहुँचा। आज मैंने शत्रु का दुर्ग जीत लिया था। आज मेरे नसीब जागे थे। आज मेरी दुनिया में प्रेम ने आँखें खोली थीं।

कई दिन बीत गये। नयनों का प्रेम दृढ़ होता गया। पर अब उसे देखकर जी न भरता था; ओस की बूँदों से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे बढ़ा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, मानों भय के समय लाल झंडी दिखाता था। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोंक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह कामवासना की शराब थी। यह लालसा की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी हो रहा था, जैसे कोई भारी हानि हो गई हो। परन्तु सावित्री दरवाज़े पर ही खड़ी थी। मैं गद्‌गद प्रसन्न हो गया। मेरा घाटा पूरा हो गया था। सारा क्रोध और दुःख दूर हो गया। सावित्री ने कहा, —"आज आपको बड़ी देर हो गई।"

परन्तु आवाज़ थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना पसीना हो गया। छात्रावस्था में हमने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था कभी न हुई थी। एक एक अङ्ग काँपने लगा। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने आपको सँभाला और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज़ देखने चला गया था। आप दरवाज़े पर खड़ी हैं, क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि-सम्मेलन है?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़ना है।"

"तो बारह बजे से पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने प्यासे नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठण्डी साँस भर कहा—"घर में जी नहीं लगता। बाहर आकर खड़ी हो गई।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, घड़ी की सुइयाँ घुमा दूँ।"

मेरे पैर न उठते थे। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पड़े। हमें धर्म का विचार हो या न हो, मगर निन्दा का भय अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, मानों कह रही है, "क्या तुम अब भी नहीं समझते, मेरा क्या हाल है? ज़रा तो सोचो।"

मैं आगे बढ़ा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे बस में न था। घर जाकर चित्त उदास हो गया। सावित्री की मूर्ति आँखों में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था कि इस कूचे में पैर रखकर मैं बदनाम हो जाऊँगा। मुझपर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे. कैसा भलामानस बना फिरता था, परन्तु पूरा गुरु-घण्टाल निकला। प्रैक्टिस भी कम हो जायगी। सावित्री व्याहता स्त्री है। उसकी तरफ़ मेरा हाथ बढ़ाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ, सब विचार जल के बुलबुले थे। यह बुलबुले जितनी जल्दी बनते हैं उससे जल्दी टूट जाते हैं। हवा का हल्का-सा थपेड़ा उनका

नाम-निशान मिटा देता है। आदमी कितना दुर्बल, कितना बेबस है, कितना कमज़ोर है!

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लड़खड़ा रहे थे। आज नया चोर पहली बार चोरी करने जा रहा था। उस समय मेरा हृदय किस प्रकार धड़कता था? कहीं कोई देख न ले, कहीं मुँह का रङ्ग भेद न खोल दे। कभी-कभी भलमंसी का विचार भी आ जाता था। पैर आगे रखता था, हृदय पीछे हट जाता था। एकाएक मैंने एक फलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे, और दिल धक-धक कर रहा था।

सत्यवान ने मुझे देखा, तो कुर्सी से उछल पड़ा और बड़े प्रेम से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर लगी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। वह बात-बात पर हँसती थी। अब उसे मेरी तरफ़ देखने में सङ्कोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। यहाँ से चला, तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। इसके बाद रास्ता खुल गया। दिन में कई-कई बार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो-दो घण्टे उसके पास बैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों-आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारों के मोती निकालनेवाला कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाले क्रान्तिदर्शी विद्वान् अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरों को जगाती थी, पर वह स्वयं सोया हुआ था। उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे-हरे खेतों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को देख-देखकर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी अपनी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है; सत्यवान धीरे-धीरे विनाश की ओर बढ़ रहा था। मगर उसे इसका पता न था। समझता था, पानी की सैर कर रहा हूँ। पर यह पानी की सैर न थी, मौत की सैर थी।

(८)

सावित्री—

कितना फ़र्क है। मणिराम की आँखें दिल में आग लगा देती थीं। पास आते, तो मैं उनकी तरफ़ खिंची जाती थी, जैसे चुम्बक लोहे की सुई को खींच लेता है। कैसा भोला-भाला लगता था. दुनिया समझती थी, इसके मुख में जीभ न होगी। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाता है, जैसे बुलबुल फूल की टहनी पर चहचहाता है। उनके बिना अब जी नहीं लगता था। मकान काटने को दौड़ता था। चाहती थी, सारे-सारे दिन मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुँह से नहीं कहा, परन्तु आँखों से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ समझ गई हैं। मेरी तरफ़ देखतीं, तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारों से चौंक उठे। कवि थे, कुछ मूर्ख नहीं थे। बे परवा थे, पर बे-समझ न थे। अब हाथ मल-मलकर पछताने लगे। संसार जीतते थे, घर हार बैठे। अब सदा उदास रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती, तो काटने को दौड़ते। आँखों में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे उनके कपड़े बदलवाने का शौक़ न था, न उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इनसे जी घबराने लगा। कुछ दिन बाद प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक पत्र "सरस्वती" में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई। जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत सों सङ्ग।

कविता क्या थी, उनकी अपनी अवस्था की तसवीर थी। मेरी आँखों से आग बरसने लगी। शेरनी की नाईं बिफरी हुई उनके सामने चली गई, और क्रोध से बोली—'यह क्या कविता लिखने लगे हो अब ?"

उन्होंने मेरी ओर उन आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर

देती, शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे से बोले—"क्या बात है ?"

"यह कविता पढ़कर लोग क्या कहेंगे ?"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है? मैंने भी जो देखा, वह लिख दिया।"

मैंने ज़रा पीछे हटकर कहा—"तुमने क्या देखा है ?"

"सावित्री ! मेरा मुँह न खुलवाओ। अपने अञ्चल में मुँह डालकर देख लो। मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा—"गालियाँ क्यों देते हो ?"

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझपर सन्देह है।"

"सन्देह होता, तो रोना काहे का था ? अब तो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें धोखा नहीं खातीं। मैंने सब कुछ आँखों से देख लिया है। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चौपट हो जायगा। और मैं भी देखता रह जाऊँगा।"

मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार को जाना होता है वहाँ, निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—"तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या ?"

"घावों पर नमक छिड़कने आई हो।"

"मेरी तरफ़ देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी। अब आँखें खुली हैं।"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नहीं तो आज हाथ न मलता। न इस तरह रोना पड़ता।"

"परन्तु लोग तो तुम्हें वाहवा कह रहे हैं। जिस पत्र में देखो, तुम्हारी ही चर्चा है, पढ़कर प्रसन्न हो जाते होंगे। दिल का कमल खिल जाता होगा।"

यह सुनकर वे खड़े हो गये। इस समय उनकी आँखों में पागलों

की-सी लाली चमक रही थी। चिल्लाकर बोले, "अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे। बहुत अच्छा, यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होंने एक बार मेरी तरफ़ देखा, जिस तरह सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है और झपटकर अलमारी की तरफ़ बढ़े। मेरा कलेजा धड़कने लगा, दौड़कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौड़ेंगे, इसलिए घर के सामने मैदान में जा खड़ी हुई। इस समय मेरी साँस फूली हुई थी, मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे बाहर न आये। थोड़ी देर पीछे दन का शब्द सुनाई दिया। मैं दौड़ती हुई अन्दर चली गई। देखा, वे फ़र्श पर पड़े तड़प रहे थे। मौत का दृश्य देखकर मैं डर गई। मगर मुझे दुःख नहीं हुआ मुक़द्दमे की लपेट में न आ जाऊँ, यह चिन्ता अवश्य हुई। गिरावट की भी कोई हद है।

दो मास बीत गये। मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिए नेक-टाई बुन रही थी। मैंने लोकाचार की परवा न करके उनसे व्याह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से जिन्दा हो रही थी। समझती थी, जीवन का सच्चा आनन्द अब आयगा। अचानक नौकर ने आकर मेरे सामने डाक रख दी। इसमें एक पैकट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कविताओं का संग्रह था। मैंने एक दो कवितायें पढ़ीं। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कैसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित। इनमें छल न था, कपट न था, झूठ और जाल न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी, माधुरी थी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। एकाएक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक-एक शब्द से प्रेम की लपटें आ रही थीं। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करनेवाला।

एक समुद्र की नाईं गहन-गम्भीर था, दूसरा पहाड़ी नाले के समान बेगवान था। एक सचाई था, परन्तु निश्शब्द, दूसरा झूठा था, पर बड़-बोला। मेरी आँखों के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये। गिरता हुआ धर्म बच गया। मैंने पुस्तक को आँखों से लगा लिया और रोने लगी।

इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी, जो उन्होंने मेरे लिए बम्बई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देखकर ठिठक गये और बोले—"क्यों रो रही हो तुम ? बात क्या है ?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल ब्याह है।"

"अब ब्याह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो क्या ?"

"परमात्मा मुझे पागल ही बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़ा। परन्तु मैं उठकर पीछे हट गई, और दरवाज़े की ओर इशारा करके बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परंतु उसके प्रेम को न ठुकरा सकी। आदमी मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है। प्रेम कभी नहीं मरता। इसे कोई नहीं मार सकता।

काल-चक्र

(१)

बहादुरशाह मुग़ल-वंश के बुझते हुए दीपक थे। कुछ लोगों का विचार है कि वे नाम-मात्र के बादशाह थे, असल में वे सूफ़ी और शायर थे। उनका आधा समय ईश्वरभक्ति में कटता था, आधा ग़ज़लें कहने में। राष्ट्रीय विषयों में उनका रत्ती भर भी लगाव न था। वे इसको एक शग़ल समझते थे। उनका दरबार राज-दरबार नहीं, प्रत्युत कवि-दरबार था, जिसमें उनकी ग़ज़लों के पद-पद पर 'सुबहान अल्लाह' और 'जज़ाक अल्लाह' की ध्वनि उठती थी। इन जी-बहलावों से जो समय बचता था उसे वे बालकों और विशेषतः अपनी पोती नर्गिस नज़र के साथ बिताते थे। इस खेल में उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होता था। वे प्रायः कहा करते थे कि बच्चों की दुनिया में जाकर मेरा मन लोट-पोट हो जाता है। उनका भोलापन, उनकी चञ्चलता, उनकी सरलता को देखकर वे आनन्द में मतवाले हो जाते थे। नर्गिस नज़र को वे शाही महल की मैना कहा करते थे। वह उनके पुत्र की पुत्री एक दासी के पेट से थी, तो भी वे जब तक उसे न देख लेते, उन्हें चैन न आता था। यहाँ तक कि उन्होंने आज्ञा दे रक्खी थी कि जब तक नर्गिस नज़र न आ जाय तब तक दस्तर्ख़ान न चुना जाय। इस आज्ञा का पूर्णरूप से पालन किया जाता था। एक बार नर्गिस नज़र के बीमार होने पर बहादुरशाह दो रातें उसके सिरहाने बैठे रहे थे। उन दिनों शाही महल में इस तरह भय छाया हुआ था, मानों किसी राजा ने धावा बोल दिया हो।

(२)

जब सन् १८५७ का राज-विप्लव हुआ, तो विद्रोही सेना ने नर्गिस नज़र के पिता मीरज़ा मुग़ल को अपना सेनापति बना लिया और

उनके नाम पर मनमानी कार्य्यवाही करने लगे। मीर मीरज़ा मुग़ल यह देखते थे और कुढ़ते थे। उनकी इच्छा न थी कि यह हत्याकाण्ड हो। वे स्वभावतः इसके विरुद्ध थे। परन्तु सेनापति होने पर भी कोई उनकी सम्मति की परवा न करता था। विद्रोही सेना इस प्रकार दौड़ती फिरती थी जैसे भूखे भेड़िये शिकार खोजते फिरते हैं। मीरज़ा मुग़ल ने उनको कई बार समझाने का यत्न किया, परन्तु सफल न हुए। वे सोचते, यह हो क्या रहा है? एक ओर तो मुझे सेनापति कह रहे हैं, मेरे नाम पर अँगरेजों की हत्या कर रहे हैं, दूसरी ओर मेरे कहने पर कान नहीं देते। क़ानून की दृष्टि में इस हत्याकाण्ड की ज़िम्मेदारी मुझपर है, यद्यपि सच्ची बात यह है कि मेरा इससे ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। न मुझसे पूछते हैं, न मेरी राय लेते हैं। जो चाहते हैं, कर लेते हैं।

एक दिन मीरज़ा मुग़ल लाल क़िले में अपने महल की छत पर खड़े थे कि दीवान ख़ास के सामने विद्रोही सैनिकों ने कई अँगरेज पुरुषों, स्त्रियों और बालकों का वध किया। इस समय नर्गिस नज़र की आयु आठ बरस की थी। इस भयानक रक्तपात को देखकर वह रोती हुई पिता की टाँगों से चिमट गई और बोली,—"उनको बचा लो।"

मीरज़ा मुग़ल पहले ही बेक़रार हो रहे थे, बेटी की प्रार्थना सुनकर और भी पिघल गये। उनकी आँखों में आँसू आ गये। भर्राये हुए स्वर से बोले, "बेटी! मैं क्या करूँ? वे मेरा कहा नहीं मानते।"

नर्गिस नज़र की प्रकृति को दादा के लाड़-प्यार ने बिगाड़ दिया था। वह समझती थी कि जिस तरह महल में हरएक आदमी मेरी आज्ञा मानता है, इसी तरह ये विद्रोही डाकू भी मेरी आज्ञा पर तलवारें झुका लेंगे। उसने अधीर होकर कहा—"उन्हें मेरी तर्फ़ से कह दो अब किसी को न मारें। नहीं मैं ख़फ़ा हो जाऊँगी।"

इस भोलेपन से मौलवी अमीनउल्ला को, जो नर्गिस नज़र के उस्ताद थे, हिम्मत हुई। वे साहस करके आगे बढ़े और बोले—"जनाब! वे आपको अपना कमानदार कहते हैं?"

मीरज़ा ने उत्तर दिया,—"यह तो दुरुस्त है।"

"तो आप उन्हें रोकते क्यों नहीं ? ज़रा सोचिए, औरतों के सामने बच्चों को क़त्ल किया जा रहा है। उनकी फ़रियाद मुग़ल-हुकूमत के कँगूरे हिला देगी।"

मीरज़ा मुग़ल के नेत्रों से आँसू बहने लगे। सोचने लगे, कहता तो ठीक है, पर मेरा क़ुसूर क्या ?

अमीनउल्ला ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा,—"आपका ख़याल ठीक नहीं कि वह आपका कहा न मानेंगे। आप ज़रा हुक्म तो दें। फिर देखें, मानते हैं या नहीं।"

मीरज़ा मुग़ल ने रोते रोते उत्तर दिया,—"वे नहीं मानेंगे।"

"तो फिर मैं जाऊँ ?"

"कहाँ ?"

"इन लोगों को समझाकर देखूँ। शायद मान ही जायँ। शायद खुदा उनके दिल में रहम डाल दे।"

मीरज़ा मुग़ल ने घबराकर कहा—"नहीं, ऐसी नहीं हो सकता। आप वहाँ नहीं जा सकते।"

"क्यों ?"

"वहाँ ख़तरा है।"

"मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।"

"वे आपको मार डालेंगे।"

मौलवी साहब ने छाती तान कर उत्तर दिया-"मुझे इसकी भी परवा नहीं। मैं मरने को तैयार हूँ।"

यह कहकर उन्होंने नर्गिस नज़र को प्यार किया, मीरज़ा मुग़ल से बग़लगीर हुए और दीवान ख़ास के मैदान की ओर चले। परन्तु सीढ़ियों से भी न उतरने पाये थे कि सहसा शोर मचा। बाद में पता लगा कि मौलवी साहब शहीद हो गये हैं।

नर्गिस नज़र रोने लगी। पर मीरज़ा मुग़ल के पास उसे चुप कराने के लिए लफ़्ज़ भी न थे।

(३)

रात का समय था। लाल क़िले में उदासी छाई हुई थी। यह जगह थी, जहाँ इस समय कपूर के दीपक जला करते थे और जहाँ दास-दासियों के कोलाहल से कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था। परन्तु आज वहाँ सुनसान अन्धकार का राज था। न रोशनी थी, न रौनक़ थी। इतने में दरवाज़े से एक बैलगाड़ी निकली। उसमें नर्गिस नज़र, उसकी मा और एक पुरुष सवार थे। देहली को उसी दिन अँगरेज़ों ने जीत लिया था। बहादुरशाह हुमायूं के मक़बरे में गिरिफ्तार हो गये थे और मीरज़ा मुग़ल अपनी जान छिपाते फिरते थे। नर्गिस नज़र की मा ने अन्तिम बार क़िले की ओर देखा और ठण्डी साँस भरकर गाड़ी-वान से कहा,—"चल भाई ले चल।" कैसा हृदय-वेधक दृश्य था, कैसी तड़पानेवाली घटना? वही नर्गिस नज़र और उसकी मा, जो मख़मल पर सोती थीं, फूलों पर चहकती थीं, रविशों पर टहलती थीं, इस समय अपने प्राण बचाने के लिए अँधेरी रात में भागी जा रही थीं। वे ऐश्वर्य्य के दिन थे, उस समय ईर्ष्या स्वयं उनसे ईर्ष्या करती थी। आज समय ने पासा पलट दिया था। इस समय दुर्भाग्य भी उनके लिए रो रहा था।

परन्तु इस दुर्भाग्य की भी किसे परवा थी। कोशिश यह थी कि जैसे हो, इस जलती आग से निकल चलें, वर्ना ख़ैर नहीं। गाड़ी किसी अभागे के भाग्य की तरह ठोकरें खाती हुई रवाना हुई। रोशनी होती तो भागना कठिन हो जाता, परन्तु कभी-कभी प्रकृति अभागों की सहायता करती है। इस समय भी ऐसा ही हुआ। परन्तु अभी छत्र-पुर के निकट ही पहुँचे थे कि आकाश में चन्द्रमा ने सिर ऊँचा किया। अभागा यात्री-समूह अँधेरा ढूँढ़ने लगा। पर सारे संसार का अन्धकार तो उनके हृदय में इकट्ठा हो चुका था, उसका बाहर कैसे पता लगता? नर्गिस नज़र की मा घबरा गई। उसने मन ही मन में सैकड़ों मिन्नतें मानीं। परमात्मा से प्रार्थना की। पीरों को भेंट देना स्वीकार किया। परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है?

एकाएक धूल उड़ती दिखाई दी। गाड़ीवान का कलेजा धड़कने लगा। सन्देह ने कहा कि विपत्ति सिर पर मँडरा रही है, तैयारी कर लो। साथ ही यह ख़याल भी आया कि सम्भव है, अपने ही आदमी हों। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती। कुछ देर यही अवस्था रही, यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया। कुदरतख़ाँ का कलेजा हिल गया। ये लोग विद्रोही सेना के सिपाही थे। जो हताश होकर चीते से अधिक तुन्द और काले नाग से अधिक भयङ्कर हो गये थे। अब क्या होगा?

कुदरतख़ाँ ने गाड़ीवान से कहा,—'गाड़ी रोकलो' और तलवार लेकर खड़े हो गये। परन्तु हाथ-पाँव काँप रहे थे। स्त्रियाँ रोने लगीं। गाड़ीवाले का लहू सूख गया। सिपाही निकट आ गये। उनके हाथों में भाले थे, नेत्रों में आग थी, दिलों में बेरहमी थी। आते ही बोले,—"जो कुछ पास है, खोलकर रख दो, नहीं तो सबको मार देंगे।"

कुदरतख़ाँ ने कहा,—"भाइयो! तुम हमारे अपने आदमी हो। तुम्हें सोचना चाहिए, कभी तुम हमारी आँखों के इशारे देखा करते थे। आज क़िस्मत ने मुँह फेर लिया है, तो तुम भी धमकियाँ देते हो। यह बात किसी मज़हब में मुनासिब नहीं। न हिन्दुओं में, न मुसलमानों में।"

एक सिपाही ने उत्तर दिया,—"तुम्हीं ने तो चुगलियाँ खाकर हमें हरवाया है, नहीं तो हम इस समय जङ्गलों में सिर न छिपाते फिरते। अब बातें करने चले हो।"

"तो ख़ुदा से डरो। इस गाड़ी में शाही हरम की एक ख़ातून हैं। उनकी इज्जत करना जैसा मेरा फ़र्ज़ है, वैसा ही तुम्हारा भी है। बादशाह बाप के बराबर होता है।"

एक दूसरे सिपाही ने बिगड़कर कहा,—"मारो साले को, बातें बनाता है।"

अवकाश भय के दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। कुदरतख़ाँ के लिए यह अवकाश अमृत हो गया। उसका भय जाता रहा, राज-

भक्ति का भाव नस-नस में जागृत हो उठा। नेत्र चमकने लगे। तलवार निकालकर निर्भयता से बोले,—"सँभलकर बात करो। मैं इनके लिए अपना सिर दे दूँगा। पहले मैं मरूँगा, फिर कोई इनकी तरफ़ आँख उठाकर देख सकेगा।"

सिपाही एक तो निराश, दूसरे संख्या में अधिक, इस बात को न सह सके, बिगड़ते हुए भेड़ियों की नाईं कुदरतखाँ पर टूट पड़े। कुदरतख़ाँ ने यथाशक्ति सामना किया, परन्तु शीघ्र ही मारे गये। इनकी यह गति देखकर गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर भाग गया।

घना जङ्गल था, रात का समय था। इन नर-पिशाचों ने नर्गिस नज़र और उसकी मा दोनों के पास जो कुछ था, रखवा लिया। इतना ही नहीं, उनके तन के वस्त्र तक भी उतरवा लिये और चलने लगे। मा-बेटी की चीख़ें निकल गईं। उन्हें रोता देखकर इन पिशाचों का हृदय भी पिघल उठा। एक ने नर्गिस नज़र को अपने घोड़े पर बिठा लिया। उसका हृदय इस समय प्रेम का स्रोत बना हुआ था। दूसरे ने नर्गिस नज़र की मा का हाथ पकड़ लिया, उसके हृदय पर सौन्दर्य ने अपनी मोहिनी डाल दी थी। नर्गिस नज़र और उसकी मा के रास्ते अलग-अलग हो गये। क़िस्मत में यह भी लिखा था।

(४)

दूसरे दिन नर्गिस नज़र सोहाना पहुँची। ज़िला गुड़गाँव में यह एक छोटा-सा क़स्बा है। वह सवार वहीं का रहनेवाला था, जिसकी प्रेम-भरी गोद में भाग्य ने नर्गिस नज़र को ला फेंका था। वह जाति का घसियारा था। उसके यहाँ कोई सन्तान न थी। इस अमूल्य रत्न के लिए उसने सैकड़ों यत्न किये, परन्तु कोई लाभ न हुआ। ओषधियाँ खाईं, गंडे तावीज़ पहने, धूनियाँ रमाईं, साधुओं की सेवा की। अपनी आयु के कई वर्ष इसी फेर में व्यतीत कर दिये, परन्तु आशा पूरी न हुई। खाली घर उसी प्रकार खाली रहा। यहाँ तक कि १८५७ ई० का साल आ गया। जिसके सन्तान नहीं होती उसका हृदय पाषाण हो जाता है, उसके दिल में प्रेम नहीं रहता। वह विद्रोही सेना के साथ

मिलकर राष्ट्रीय प्रबन्ध को नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। मौलवी अमीनउल्लाह को दिनदहाड़े मार डालनेवाला यही घसियारा था।

दोपहर का समय था, घसियारा अपने घर पर पहुँचा और नर्गिस नज़र को बाहर ठहराकर अन्दर गया। उसकी स्त्री ने अधीरता से पूछा,—"क्या मिला ?"

"तुम बतलाओ ?"

"रुपया पैसा।"

"इससे बढ़कर।"

"सोने के भूषण।"

"उससे भी अच्छी वस्तु।"

"वह क्या ?"

घसियारे ने कहा,—"एक फूल सी खूबसूरत लड़की।"

घसियारिन का चेहरा खिल गया। उसकी आँखों में आनन्द झलकने लगा। वह अधीर होकर भागी और नर्गिस नज़र को गले से लगाकर रोने लगी। इस समय उसे ऐसा मालूम हुआ, मानों नर्गिस नज़र उसकी अपनी बिछुड़ी हुई बेटी है, जो चिरकाल के बाद उसके पास वापस आई है। इस रात उन दोनों के आनन्द का पारावार न था। उनको वह वस्तु मिली थी, जिसके लिए वे दिन-रात रोते रहते थे। इस महान् विप्लव ने उनके भींगे हुए नेत्रों को शुष्क कर दिया था। परन्तु शोक ! उनका यह आनन्द केवल एक रात के लिए था, जो प्रातःकाल चन्द्रमा की चाँदनी के साथ ही नष्ट हो गया। दिन चढ़ा, तो अँगरेजी सेना के सिपाहियों ने घसियारे को गिरफ्तार कर लिया और देहली ले चले। वहाँ पचासों आदमियों ने गवाही दी कि यह आदमी विप्लव में शामिल था। अधिकारियों ने उसे फाँसी का दण्ड दिया। यह समाचार घसियारिन ने सुना, तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी, और कई दिन तक बीमार रही। नर्गिस नज़र ने उसकी सेवा-सुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया। मा को खोकर उसने मा की क़द्र जानी थी। परन्तु इसका सारा प्रयत्न व्यर्थ हुआ। घसियारिन बच न सकी।

नर्गिस नज़र सिर पीटकर रह गई। वह अब संसार में अकेली थी, निस्सहाय और दीन। न मा थी, न बाप था; न कोई और सगा था। जब कभी पिछले ऐश्वर्य के दिनों को स्मरण करती तो नयनों से आँसू झलक पड़ते और पहरों हिचकियाँ बँधी रहतीं। परन्तु विवश थी। ढोर डंगर चराती थी, उपले थापती थी और रूखा-सूखा खाकर जहाँ जगह मिलती वहीं पड़ रहती थी। यह वह लड़की थी, जो महलों में रहती थी, जिसके इशारे पर नौकर दौड़ते थे। आज वह यतीम थी।

(५)

कष्ट के कई वर्ष बीत गये। नर्गिस नज़र जवान हुई। उसके मद-मत्त यौवन की किरणों से सारा गाँव जगमगाने लगा। प्रकृति ने उससे सुख-सम्पत्ति छीन ली थी, माता-पिता छीन लिये थे, परन्तु उसके रूप-सौन्दर्य को वह भी न छीन सकी। वह गाँव में रहती थी, गाँव-वालों को चिन्ता हुई कि जवान लड़की का कुँआरी रहना उचित नहीं। किसी ने वस्त्र दिया, किसी ने रुपया पैसा, और नर्गिस नज़र का व्याह एक घसियारे के साथ कर दिया गया। उस समय उसे बहादुरशाह का समय याद आ गया, जब उसकी बात टालने का साहस किसी को न था। व्याह के पश्चात् जब एकान्त हुआ, तो घसियारे पति ने कहा,—"देखो, तुमने शाही घराने की रोटियाँ खाई हैं, यहाँ वह आनबान न चलेगी। अब अपने ऐश के दिनों को भूल जाओ, और घसियारिन की तरह रहो। नहीं तो मार-मारकर हड्डियाँ तोड़ दूँगा। मुझे नाज़-नखरे पसन्द नहीं।"

नर्गिस नज़र के कलेजे में जैसे किसी ने बाण मार दिया। वह कई वर्षों से दुःख झेल रही थी। विपत्तियों की आँधी में उसने अपने सजल नेत्र किसी के सामने न किये। शाही गौरव उसको दीनता के प्रकट करने से रोक देता था। परन्तु अब उसे यह आशा न थी कि व्याह के पहले ही दिन पति उसे ऐसे कठोर शब्द कहेगा। प्रेम की दो बातों के स्थान में बाण जैसे शब्द सुनकर नर्गिस नज़र को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों किसी ने गोली मार दी हो। वह काम करने से न घबराती थी,

न निर्धनता का जीवन उसे दुर्वह जान पड़ता था, परन्तु क्या उसके प्रारब्ध में चार मीठे शब्द भी न थे ? उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। एक दिन वह था, जब इन आँसुओं पर मोती निछावर होते थे। परन्तु आज यह सुन्दर जल कितना निकृष्ट हो गया था। समय के फेर ने उसके मोल को धूल में मिला दिया था।

संसार की सबसे बड़ी कहानी

(१)

पृथ्वी के प्रारम्भ में जब परमात्मा ने हमारी नयनाभिराम सृष्टि रची, तो आदमी को चार हाथ दिये चार पाँव दिये दो सिर दिये एक दिल दिया । और कहा—"तू कभी दुःखी न होगा । तेरा संसार स्वर्ग है ।"

उस समय आदमी बलवान्, सूरमा, शान्त, प्रसन्न-हृदय और प्रफुल्ल-वदन था। प्रकृति की समझ में न आनेवाली सारी शक्तियाँ सदा उसके सामने पानी भरती थीं, और दुःख दर्द पर और कलह और कष्ट पर संसार के द्वार बन्द थे । और यह बीमारियाँ संसार का द्वार खटखटाती थीं, और लौट जाती थीं ।

परन्तु शैतान को यह स्वर्गीय दृश्य पसन्द न आया ।

उसने अपने छल-कपट के और धोखा-धड़ी के विनाशकारी शस्त्र लेकर आदमी पर बार-बार आक्रमण किये, परन्तु चार हाथोंवाले, चार पाँववाले, दो सिरोंवाले, एक दिलवाले आदमी के सामने उसकी कोई पेश न गई, और सुधा और संगीत का सुन्दर संसार पाप की काली छाया से सुरक्षित रहा ।

परमात्मा अपने जीव की इस वीरता पर प्रसन्न हुआ, और आदमी का संसार स्वर्ग बना रहा ।

आदमी ने यह देखा, और खुश हुआ ।

(२)

बहुत देर के बाद शैतान को दुनिया का फिर ख्याल आया, और उसने दुनिया पर फिर हमला किया ।

रात का समय था । आदमी शान्ति की निद्रा में स्वर्ग के सुपने देख रहा था । शैतान अपने झिल्लीदार पंजों को धीरे-धीरे ज़मीन पर रखता हुआ आदमी के पास आया और अपनी जादू की तलवार से उसके

दो टुकड़े-करके भाग गया। परन्तु आदमी को आधी रात के इस आसुरी कृत्य का ज्ञान न हुआ।

प्रातःकाल जब संग्राम हुआ, तो दो हाथोंवाले, दो पाँववाले, एक सिरवाले, आधे दिलवाले, आदमियों ने शैतान का देह और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियों से मुक़ाबिला किया ; परन्तु उनमें साहस और उत्साह न था। और शैतान के वार भारी थे, और आदमी के किये कुछ बनता न था।

शैतान जीत गया।

उसने विजय और विलास का क़हक़हा लगाया, और इसके साथ ही शान्त और संतोष-भरे संसार में ईर्ष्या-द्वेष और दुःख-दारिद्र्य की भयानक बीमारियों ने प्रवेश किया।

(३)

अब आदमी वह पहला सूरमा, सज्जन, बुद्धिमान् आदमी न था। उसके अधरों पर मुस्कान के स्थान में ठंडी आहें थीं ; और जीवन का प्रकाशमय मार्ग उसकी आँखों से ओझल हो गया था। और उसके दिल में खुशी न थी।

और दो हाथोंवाला, दो पाँवोंवाला, एक सिरवाला, आधे दिलवाला आदमी अपने भगवान् के सामने भूमि पर गिर पड़ा, और अपने बीते हुए सुनहरे समय की वापसी के लिए रो-रोकर प्रार्थना करने लगा।

परमात्मा ने अपने उपासक का आर्त्त-नाद सुना, और कहा,—"उठ ! निराशा छोड़। अपने बिछुड़े हुए दोनों भाग मिला, और फिर तुझे कोई भी दुःख न दे सकेगा, और तेरा संसार स्वर्ग बना रहेगा।"

प्रेम और पवित्रता की, जीवन और ज्योति की, संगीत और सौन्दर्य की यह अमर वाणी आज भी वायु-मण्डल में उसी तरह गूँज रही है। मगर दुनिया के अजान बेटे उसकी ओर ध्यान नहीं देते, न उनका संसार स्वर्ग बनता है।

शैतान यह देखता है, और हँसता है।

———

भग्न-हृदय

(१)

संध्या का समय था। जगतसिंह नदी के किनारे पर आये और सुन्दरी प्रमदा के पास बैठ गये, पर प्रमदा उसी तरह उदास बैठी रही। उसने ज़रा हरक़त न की।

उसे जगतसिंह से प्रेम था। वह उन्हें देखकर आनंद में विह्वल हो जाती थी। उसने उनकी आँखों में प्रेम की तरंगे दौड़ती देखी थीं। उसने उनकी रसीली वाणी में प्रेम का पाठ पढ़ा था। उसने उनके ओजस्वी वचनों में प्रेम का संगीत सुना था, और इन सब प्रभावों को अपने अन्तस्तल में छिपा रक्खा था। वह उन्हें देखकर प्रसन्नता से झूमने लग जाती थी। उसकी यह आनन्द-लहरी जगतसिंह को भी मतवाला बना देती थी, जिस तरह ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूजा रंग पकड़ता है। या जिस तरह दिये से दिया जलता है।

परन्तु आज जगतसिंह के आने पर उसने कोई हर्ष, कोई उल्लास, कोई आवेग प्रकट न किया, और जिस तरह बैठी थी उसी तरह बैठी रही। मानों वह जीती-जागती नारी नहीं, मिट्टी की मूर्ति थी, जिसमें कोई चेष्टा, कोई भावना न थी। जगतसिंह ने धीरे से अपना सख्त हाथ उसके कोमल कंधे पर रखा और एक प्यार से भरी हुई थपकी देकर कहा,—"प्रमदा। ज़रा चहको।"

प्रमदा ने अपना मुँह जगतसिंह की तरफ़ मोड़ा और अपनी आँखें उसकी तरफ़ उठाईं, परन्तु उनमें वह चंचलता न थी, जिसने जगतसिंह के हृदय को जीत लिया था। उनमें आँसू थे और आँसूओं में करुणा थी। जगतसिंह के हृदय पर एक घूँसा-सा लगा। थोड़ी देर चुप रहकर बोले,—'प्रमदा" मैं क्या कर सकती हूँ?'

प्रमदा ने जगतसिंह का सख्त मर्दाना हाथ अपने कोमल ज़नाने

"परमात्मा करे वह दिन जल्द आये—मैं उसी की प्रतीक्षा में तुम्हारी राह देखती रहूँगी।"

यह कहते-कहते प्रमदा ने आँखें बंद कर लीं और उस दिन की कल्पना में लीन हो गई। यह कल्पना कैसी मनोहर थी, कैसी आह्लाद-भरी। प्रमदा की आँखों में वह दृश्य फिर गया जब जगतसिंह विजय-पताका उड़ाता हुआ वापस आयेगा, और मेवाड़ के राजपूत उसकी राह में आँखें बिछा देंगे। सोचने लगी, उस समय मैं कैसी प्रसन्न हूँगी। पृथ्वी पर पाँव न पड़ेंगे, मन की प्रसन्नता मन में न समा सकेगी और होंठों पर मुस्कराहट बनकर प्रकट हो जायगी, जैसे पानी तले वायु हो तो बुलबुले ऊपर दिखाई देने लगते हैं।

एकाएक उसने जगतसिंह की आँखों से अपनी आँखें मिलाईं और दुःख व चिन्ता के आँसुओं को छिपाकर पूछा,—"यह महबूब-ख़ां कौन है?"

"मुग़ल-सिपहसालार।"

"अच्छा। और चढ़ाई का कारण क्या है? हमारे राणा ने तो कभी मुग़लों पर आक्रमण नहीं किया।"

"वह हमें जीतना चाहते हैं।"

प्रमदा ने स्त्रियों के स्वाभाविक कटाक्ष से अपनी लम्बी और कोमल उँगली अपने गाल पर रखी और चिंतित-सी होकर बोली,—"यदि हम हार गये तो फिर क्या होगा!"

यह कह कर उसने ठण्डी साँस भरी।

जगतसिंह ने एक हाथ से प्रमदा का कन्धा पकड़कर उसे प्यार से हिलाया और दूसरा हाथ अपनी तलवार की मुट्ठी पर रखा और कहा,—"प्रमदा, यह कभी नहीं हो सकता। हम राजपूत हैं; सिरों की बाज़ी लगा देंगे। हमें हराना आसान नहीं।"

इतने में डंके की चोट सुनाई दी। जगतसिंह और प्रमदा दोनों उड़ते हुए सड़क के किनारे पहुँच गये। वहाँ सिपाहियों का समुद्र लहरा रहा था। उस समय उनके चेहरों पर कैसा तेज था, नेत्रों में

कैसी चमक। प्रमदा की सोई हुई वीरता भी जाग उठी। सिंहनी माता का दूध अकारथ न गया। वह टकटकी लगाकर उन शूरवीर सिपाहियों की ओर देखने लगी, जो अपनी जन्मभूमि की लाज रखने के लिए प्राण भेंट देने के लिए जा रहे थे। सहसा उसके हृदय में एक शंका उत्पन्न हुई, कहीं जगतसिंह घायल न हो जायँ। इस शंका का उत्पन्न होना था कि उसकी आँखों तले अंधेरा छा गया। उसने सहारे के लिए जगतसिंह की ओर हाथ बढ़ाया, परन्तु वह वहाँ न थे। भीड़ में किस समय बिछुड़ गये, इस बात का उसे पता तक न हुआ। प्रमदा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

घोड़े दौड़ रहे थे, और प्रत्येक दर्शक जो पूरी सावधानी से अपना बचाव न कर रहा था, ख़तरे में था। प्रमदा के अचेत शरीर पर एक घोड़े के पाँव पड़ने ही वाले थे, कि एक सवार ने बिजली की-सी तेज़ी से आगे बढ़कर उसे इस प्रकार उठा लिया, जैसे सोते हुए बच्चे को मा उठा लेती है। प्रमदा बच गई।

जब उसे सुध आई, तो वह अपने घर में थी, और उसके सामने एक सुन्दर नवयुवक बैठा था। प्रमदा ने उसे देखा; उसने प्रमदा को देखा, और एक ही दृष्टि में ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कई संसार बदल गये हैं। प्रमदा के प्राण बच गये थे, परन्तु दिल न बच सका। उसे कामदेव के तीरों ने बेध दिया था। उसे नये आदमी के प्यार ने जीत लिया था।

(२)

यह सिपाही राणा का सिपहसालार जयसिंह था। उसकी और प्रमदा की प्रीति से जगतसिंह के प्राणों पर आ बनी, परन्तु वह कुछ कर न सकते थे। उन्हें प्रमदा से यह आशा न थी। वह समझते थे, सब कुछ हो सकता है, परन्तु प्रमदा से धोखे की आशा नहीं हो सकती। उन्हें इस बात का विश्वास था। परन्तु जो न सोचा था वह हो गया, प्रमदा ने आँखें चुराना आरम्भ किया। जो प्रेम की भूखी थी, उसने धन और मान को अपना हृदय दे दिया, और एक ही सप्ताह के अन्दर

उसकी मँगनी जयसिंह के साथ पक्की हो गई। जयसिंह ख़ुशी से पागल हो गया। और क्यों न होता, उसे आसमान का चाँद मिल गया था।

मगर जगतसिंह ने यह सुना, तो सिर पीट लिया। आशा कुचले हुए सर्प के समान मिट्टी में तड़पने लगी, पर उन्होंने अपने हाव-भाव में अन्तर न आने दिया, और सन्ध्या-समय उसी तरह नियम से नदी-तट पर जाते रहे, बैठते रहे, प्रमदा की राह देखते रहे। उनका विचार था कि सम्भव है, कभी प्रमदा इधर आ निकले तो, उससे दो-दो बातें हो जायँगी। परन्तु प्रमदा ने कभी उधर मुँह भी न किया। उधार लेकर बाबू बनिये की दूकान के सामने से गुजरना बन्द कर देते हैं। यहाँ तक कि पन्द्रह दिन बीत गये और सेना सीमा-प्रदेश को रवाना हुई। प्रमदा का हृदय दुःख के बोझ से दब गया, परन्तु यह आशंका जगतसिंह के लिए नहीं, किन्तु जयसिंह के लिए थी। जिसे उसने दिल दिया था। जिसके साथ उसने प्यार की प्रतिज्ञा की थी। जिसके साथ उसने व्याह की बात पक्की की थी। स्त्री अपने प्रेम में इतना बदल सकती है, यह जगतसिंह के लिए नया अनुभव था। परन्तु वह प्रमदा के प्रेम में अब दृढ़ थे, और जिस दिन उन्हें युद्ध-क्षेत्र को जाना था, उस दिन भी नदी-तट पर पहुँचे, और उस स्थान से जहाँ वह और प्रमदा दोनों बैठकर प्रेम की बातें किया करते थे, इस तरह रो-रोकर बिदा हुए, मानों वह स्वयं प्रमदा से बिदा हो रहे हों।

जयसिंह सेना को लिये हुए रण-भूमि में पहुँचे। वहाँ भीषण हत्या-काण्ड मचा हुआ था। जयसिंह ने अपनी ओर से सारा बल लगा दिया, परन्तु भाग्य के सामने एक न चली। राजपूतों के पैर उखड़ गये, महबूबखां की सेना में विजय की ध्वनि उठने लगी। जयसिंह भाग खड़ा हुआ। उसको नाम और यश की इच्छा तो थी, परन्तु उस यश के लिए, जिस बल और बलिदान की आवश्यकता है, उससे वंचित था। सेना ने सिपहसालार को भागते देखा, तो उनका रहा-सहा साहस भी टूट गया। चारों ओर आपा-धापी मच गई—अपमान सामने खड़ा

घूर रहा था। जगतसिंह ने यह देखा, तो उनकी आँखों से आग के अंगारे बरसने लगे। वह सिंह की नाईं गर्जने लगे। उस समय उनकी जिह्वा पर सरस्वती थी। एक-एक शब्द हृदय में चुभता चला जाता था। उनकी वक्तृता ने भागती हुई सेना के पाँव पकड़ लिये। विजय और पराजय में फिर संग्राम होने लगा। जगतसिंह जिधर झुकते थे पर्रे के पर्रे साफ़ करते जाते थे। उनके सामने कोई खड़ा न हो सकता था, जैसे तूफ़ान के सामने तिनका नहीं ठहरता। यहाँ तक कि संध्या होते-होते युद्ध का पासा पलट गया। जो विजयी थे उनको पराजय का संदेह होने लगा और जो हार चुके थे उन्हें विजय का विश्वास बँध गया। विजय और पराजय में दो क़दम का फ़र्क है।

दूसरे दिन युद्ध फिर आरंभ हुआ। आज दोनों ओर बड़ा जोश था। एक पक्ष का साहस बढ़ा हुआ था, दूसरा जीवन से हाथ धोकर क्रुद्ध सर्प की नाईं फुंकार रहा था। परन्तु जगतसिंह की-सी निर्भयता कहीं दिखाई न देती थी। वह विफलमनोरथ थे। उन्हें जीवन की कोई अभिलाषा न थी। सोचते थे, अगर बच गया, तो क्या करूँगा। मेरे जीवन का वसन्त समाप्त हो चुका है, अब पतझड़ में रहें भी, तो क्या रहें? इससे तो यही अच्छा है कि जन्मभूमि पर बलिदान हो जायँ, कोई याद तो करेगा। इस विचार ने उन्हें मृत्यु की ओर से बेपरवाह कर दिया था। वह मरने को तैयार थे, परन्तु मृत्यु उनके निकट न आती थी, मानों उसे भी उनसे डर आने लगा था। एकाएक मालूम हुआ कि जयसिंह शत्रुओं के घेरे में है। जगतसिंह के होंठों पर प्रतीकार की मुस्कराहट खेलने लगी। परन्तु दूसरे ही क्षण में उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानों प्रमदा उनकी ओर घृणा से देख रही और कह रही है—मुझे यह विचार न था कि तुम ऐसे नीच भी हो सकते हो। इस समय यह तेरा दुशमन नहीं, तेरा साथी है, जो तेरे देश के दुशमनों से लड़ रहा है, और तू उसकी हार पर ख़ुश होता है।

गंगा का बहाव बदल गया। जगतसिंह ने घोड़े को एड़ लगाई

और मनोगति के समान उड़ते हुए वहाँ पहुँच गये, जहाँ जयसिंह पृथ्वी पर अचेत पड़ा था, और एक मुग़ल-सिपाही उसपर झुका उसको क़त्ल करना चाहता था। यदि एक भी क्षण का विलंब हो जाता, तो जयसिंह मारा जा चुका था। अकस्मात् जगतसिंह घोड़े को उड़ाते हुए वहाँ पहुँचे और जयसिंह के मूर्च्छित शरीर को उठा ले गये। शत्रु चकित रह गये। इस प्राणपण की किसी को आशा न थी। जगतसिंह पर चारों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी, परन्तु वह इनकी इतनी भी परवा न करते थे जितनी छोटा बालक पानी की बूँदों की करता है। वह घोड़े को उड़ाये लिये जाते थे। इस समय उन्हें अपने तन-बदन का होश न था, न मरने का भय था। उन्हें केवल एक विचार था, कि किसी तरह जयसिंह के प्राण बच जायें और उनका यह मनोरथ सिद्ध हो गया। परन्तु उनका अपना शरीर तीरों से छलनी हो गया और उन्हें इसकी परवा न थी।

(३)

विजयी सेना मेवाड़ में पहुँची, तो लोगों ने पैरों में आँखें बिछा दीं। जयसिंह के हर्ष का ठिकाना न था। बाज़ारों में पुरुष थे, उन्होंने जयकार लगाये। छतों पर स्त्रियाँ थीं, उन्होंने फूल बरसाये। जयसिंह ऐसा प्रसन्न था जैसे कोहनूर हीरा हाथ लग गया हो, ऐंठ-ऐंठकर चलता था और बारम्बार छतों की ओर देखता था, जैसे किसी वस्तु की खोज कर रहा हो। सहसा उसका कलेजा धड़कने लगा। प्रमदा स्त्रियों में खड़ी थी और उसकी ओर प्रेम और प्यास की आँखों से देख रही थी। जयसिंह ने अपने लम्बे क़द को और भी लम्बा किया और गर्व से चलने लगा। पुरुष कहते थे, कैसा सूरमा है, इसने अपने नाम की लाज रख ली है। स्त्रियाँ एक दूसरी से बातें करती थीं, इसने माँ का दूध सफल कर दिया, कैसा बाँका वीर है। परन्तु जगतसिंह जिन्होंने अपने आपको मौत के मुख में देकर यह विजय ख़रीदी थी, पालकी में सबसे पीछे थे। उनपर न किसी स्त्री ने फूल फेंका और न किसी पुरुष ने उनके नाम का जयकार बुलाया। जयसिंह के हृदय में जब कभी यह

घूर रहा था। जगतसिंह ने यह देखा, तो उनकी आँखों से आग के अंगारे बरसने लगे। वह सिंह की नाईं गर्जने लगे। उस समय उनकी जिह्वा पर सरस्वती थी। एक-एक शब्द हृदय में चुभता चला जाता था। उनकी वक्तृता ने भागती हुई सेना के पाँव पकड़ लिये। विजय और पराजय में फिर संग्राम होने लगा। जगतसिंह जिधर झुकते थे परे के परे साफ़ करते जाते थे। उनके सामने कोई खड़ा न हो सकता था, जैसे तूफ़ान के सामने तिनका नहीं ठहरता। यहाँ तक कि संध्या होते-होते युद्ध का पासा पलट गया। जो विजयी थे उनको पराजय का संदेह होने लगा और जो हार चुके थे उन्हें विजय का विश्वास बँध गया। विजय और पराजय में दो क़दम का फ़र्क़ है।

दूसरे दिन युद्ध फिर आरंभ हुआ। आज दोनों ओर बड़ा जोश था। एक पक्ष का साहस बढ़ा हुआ था, दूसरा जीवन से हाथ धोकर क्रुद्ध सर्प की नाईं फुंकार रहा था। परन्तु जगतसिंह की-सी निर्भयता कहीं दिखाई न देती थी। वह विफलमनोरथ थे। उन्हें जीवन की कोई अभिलाषा न थी। सोचते थे, अगर बच गया, तो क्या करूँगा। मेरे जीवन का वसन्त समाप्त हो चुका है, अब पतझड़ में रहें भी, तो क्या रहें? इससे तो यही अच्छा है कि जन्मभूमि पर बलिदान हो जायँ, कोई याद तो करेगा। इस विचार ने उन्हें मृत्यु की ओर से बेपरवाह कर दिया था। वह मरने को तैयार थे, परन्तु मृत्यु उनके निकट न आती थी, मानों उसे भी उनसे डर आने लगा था। एकाएक मालूम हुआ कि जयसिंह शत्रुओं के घेरे में है। जगतसिंह के होंठों पर प्रतीकार की मुस्कराहट खेलने लगी। परन्तु दूसरे ही क्षण में उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानों प्रमदा उनकी ओर घृणा से देख रही और कह रही है—मुझे यह विचार न था कि तुम ऐसे नीच भी हो सकते हो। इस समय यह तेरा दुश्मन नहीं, तेरा साथी है, जो तेरे देश के दुश्मनों से लड़ रहा है, और तू उसकी हार पर ख़ुश होता है।

गंगा का बहाव बदल गया। जगतसिंह ने घोड़े को एड़ लगाई

और मनोगति के समान उड़ते हुए वहाँ पहुँच गये, जहाँ जयसिंह पृथ्वी पर अचेत पड़ा था, और एक मुग़ल-सिपाही उसपर झुका उसको क़त्ल करना चाहता था। यदि एक भी क्षण का विलंब हो जाता, तो जयसिंह मारा जा चुका था। अकस्मात् जगतसिंह घोड़े को उड़ाते हुए वहाँ पहुँचे और जयसिंह के मूर्च्छित शरीर को उठा ले गये। शत्रु चकित रह गये। इस प्राणपण की किसी को आशा न थी। जगतसिंह पर चारों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी, परन्तु वह इनकी इतनी भी परवा न करते थे जितनी छोटा बालक पानी की बूँदों की करता है। वह घोड़े को उड़ाये लिये जाते थे। इस समय उन्हें अपने तन-बदन का होश न था, न मरने का भय था। उन्हें केवल एक विचार था, कि किसी तरह जयसिंह के प्राण बच जायें और उनका यह मनोरथ सिद्ध हो गया। परन्तु उनका अपना शरीर तीरों से छलनी हो गया और उन्हें इसकी परवा न थी।

(३)

विजयी सेना मेवाड़ में पहुँची, तो लोगों ने पैरों में आँखें बिछा दीं। जयसिंह के हर्ष का ठिकाना न था। बाज़ारों में पुरुष थे, उन्होंने जय-कार लगाये। छतों पर स्त्रियाँ थीं, उन्होंने फूल बरसाये। जयसिंह ऐसा प्रसन्न था जैसे कोहनूर हीरा हाथ लग गया हो, ऐंठ-ऐंठकर चलता था और बारम्बार छतों की ओर देखता था, जैसे किसी वस्तु की खोज कर रहा हो। सहसा उसका कलेजा धड़कने लगा। प्रमदा स्त्रियों में खड़ी थी और उसकी ओर प्रेम और प्यास की आँखों से देख रही थी। जयसिंह ने अपने लम्बे क़द को और भी लम्बा किया और गर्व से चलने लगा। पुरुष कहते थे, कैसा सूरमा है, इसने अपने नाम की लाज रख ली है। स्त्रियाँ एक दूसरी से बातें करती थीं, इसने माँ का दूध सफल कर दिया, कैसा बाँका वीर है। परन्तु जगतसिंह जिन्होंने अपने आपको मौत के मुख में देकर यह विजय खरीदी थी, पालकी में सबसे पीछे थे। उनपर न किसी स्त्री ने फूल फेंका और न किसी पुरुष ने उनके नाम का जयकार बुलाया। जयसिंह के हृदय में जब कभी यह

विचार आ जाता, तो उसका मुख-मंडल फीका पड़ जाता, जैसे चन्द्रमा पर बादल आ जाते हैं। मगर दूसरे क्षण में वह फिर चमकने लगता। चाँद बादलों से बाहर निकल आता था।

दूसरे दिन दरबार लगा। लोग इस तरह टूटे जैसे पतंग दीपक पर टूटते हैं। कहीं तिल फेंकने को स्थान न था। चारों ओर आदमियों के सिरों का सागर लहरा रहा था। सबकी आँखें एक-मात्र जयसिंह के मुख पर लगी थीं। लोग उसकी ओर देखते थे और उसके सौभाग्य की चर्चा करते थे। ईश्वर की महिमा देखो, जो दासी थी, वह रानी बन बैठी और जो रानी थी उसे कोई पूछता भी न था—जगतसिंह अपने मकान की अँधेरी कोठरी में पड़े थे और अपने घावों से कराह रहे थे।

राणा ने खड़े होकर कहा—"जयसिंह! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे तुमसे जो जो आशाएँ थीं, तुमने वह सारी पूरी कर दीं। मेवाड़ का बच्चा-बच्चा तुम्हारा कृतज्ञ है। तुम शूरवीर हो। तुमने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई। तुमने प्राणपण से काम किया है, इसलिए—"

चारों ओर सन्नाटा था, कोई शब्द सुनाई न देता था। लोग अपने जातीयरक्षक की प्रशंसा महाराणा के मुख से सुनने को अधीर हो रहे थे। सहसा एक बूढ़ा आदमी हाथ बाँधकर खड़ा हो गया और ऊँचे स्वर से बोला,—"महाराज! यह झूठ है। विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की। यह असम्भव था। इसमें मरने का साहस नहीं, लड़ने का उत्साह नहीं। इसने मेवाड़ का नाम डुबो दिया था।"

दरबार में कोलाहल मच गया, परन्तु महाराज के इशारे से फिर चारों ओर शान्ति हो गई। उन्होंने पूछा,—"तो यह विजय किसने प्राप्त की है?"

बूढ़े ने कहा—"जगतसिंह ने।"

जयसिंह का मुख कानों तक लाल हो गया। परन्तु उसने साहस से कहा—"यह कौन कहता है?"

उस समय उसकी आवाज़ थरथरा रही थी।

राणा साहब ने जयसिंह को चुप रहने का इशारा किया, और वृद्ध

रामसिंह से पूछा,—"तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है, कि विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की ?"

"मैं राजपूत हूँ। मैं झूठ नहीं बोलता।"

"परन्तु जयसिंह भी तो राजपूत है। तुम दोनों सच्चे नहीं हो सकते। एक झूठा होगा।"

'स्वयं जगतसिंह से पूछ लिया जाय।"

"यह कैसे हो सकता है।" जयसिंह ने बड़बड़ाते हुए कहा,—"वह बीमार है, उसे यहाँ लाना उसको मृत्यु के मुख में डालना है।"

महाराणा ने कहा,—"हमें उसका जीवन प्यारा है, परन्तु हमें सचाई उससे भी प्यारी है। जाओ उसकी पालकी यहाँ उठा लाओ। इस बात का निर्णय होना चाहिए।"

(४)

रामसिंह की बात सुनकर जगतसिंह फुंकारें मारने लगे। उन्हें जयसिंह से इस नीचता की आशा न थी। वह लेटे हुए थे, उठकर बैठ गये और अपना तकिया दूर फेंककर बोले,—"रामसिंह ! यह असह्य है, मैं चलकर जयसिंह का मुँह बन्द कर दूँगा। मुझे दरबार में ले चलो।"

पालकी दरबार को रवाना हुई।

जगतसिंह सोचते थे, जयसिंह ने राजपूतों के नाम को कलंक लगा दिया। वह कायर है, यह मैं जानता था। परन्तु वह झूठा भी है, इसका मुझे पता न था। उसने पहले मेरे प्रेम की नगरी उजाड़ी थी, अब कीर्ति की दौलत पर डाका मारता है। मैंने एक बार सहन किया, परन्तु अब न करूँगा। पुरस्कार लेने गया था, लज्जित होकर निकलेगा। मैं उसका एक साधारण सैनिक हूँ। कदाचित् वह समझता होगा कि मुझमें यह साहस न होगा। परन्तु मैं उसे दिखा दूँगा कि सचाई में कितना बल है। इसके सामने लक्ष्मी और प्रतिष्ठा दोनों सिर नहीं उठा सकतीं।

इतने में पालकी प्रमदा के मकान के सामने से गुजरी। जगतसिंह

विचार आ जाता, तो उसका मुख-मंडल फीका पड़ जाता, जैसे चन्द्रमा पर बादल आ जाते हैं। मगर दूसरे क्षण में वह फिर चमकने लगता। चाँद बादलों से बाहर निकल आता था।

दूसरे दिन दरबार लगा। लोग इस तरह टूटे जैसे पतंग दीपक पर टूटते हैं। कहीं तिल फेंकने को स्थान न था। चारों ओर आदमियों के सिरों का सागर लहरा रहा था। सबकी आँखें एक-मात्र जयसिंह के मुख पर लगी थीं। लोग उसकी ओर देखते थे और उसके सौभाग्य की चर्चा करते थे। ईश्वर की महिमा देखो, जो दासी थी, वह रानी बन बैठी और जो रानी थी उसे कोई पूछता भी न था—जगतसिंह अपने मकान की अँधेरी कोठरी में पड़े थे और अपने घावों से कराह रहे थे।

राणा ने खड़े होकर कहा—"जयसिंह! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे तुमसे जो जो आशाएँ थीं, तुमने वह सारी पूरी कर दीं। मेवाड़ का बच्चा-बच्चा तुम्हारा कृतज्ञ है। तुम शूरवीर हो। तुमने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई। तुमने प्राणपण से काम किया है, इसलिए—"

चारों ओर सन्नाटा था, कोई शब्द सुनाई न देता था। लोग अपने जातीयरक्षक की प्रशंसा महाराणा के मुख से सुनने को अधीर हो रहे थे। सहसा एक बूढ़ा आदमी हाथ बाँधकर खड़ा हो गया और ऊँचे स्वर से बोला,—"महाराज! यह झूठ है। विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की। यह असम्भव था। इसमें मरने का साहस नहीं, लड़ने का उत्साह नहीं। इसने मेवाड़ का नाम डुबो दिया था।"

दरबार में कोलाहल मच गया, परन्तु महाराज के इशारे से फिर चारों ओर शान्ति हो गई। उन्होंने पूछा,—"तो यह विजय किसने प्राप्त की है?"

बूढ़े ने कहा—"जगतसिंह ने।"

जयसिंह का मुख कानों तक लाल हो गया। परन्तु उसने साहस से कहा—"यह कौन कहता है?"

उस समय उसकी आवाज़ थरथरा रही थी।

राणा साहब ने जयसिंह को चुप रहने का इशारा किया, और वृद्ध

रामसिंह से पूछा,—"तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है, कि विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की ?"

"मैं राजपूत हूँ। मैं झूठ नहीं बोलता।"

"परन्तु जयसिंह भी तो राजपूत है। तुम दोनों सच्चे नहीं हो सकते। एक झूठा होगा।"

"स्वयं जगतसिंह से पूछ लिया जाय।"

"यह कैसे हो सकता है।" जयसिंह ने बड़बड़ाते हुए कहा,—"वह बीमार है, उसे यहाँ लाना उसको मृत्यु के मुख में डालना है।"

महाराणा ने कहा,—"हमें उसका जीवन प्यारा है, परन्तु हमें सचाई उससे भी प्यारी है। जाओ उसकी पालकी यहाँ उठा लाओ। इस बात का निर्णय होना चाहिए।"

(४)

रामसिंह की बात सुनकर जगतसिंह फुंकारें मारने लगे। उन्हें जयसिंह से इस नीचता की आशा न थी। वह लेटे हुए थे, उठकर बैठ गये और अपना तकिया दूर फेंककर बोले,—"रामसिंह ! यह असह्य है, मैं चलकर जयसिंह का मुँह बन्द कर दूँगा। मुझे दरबार में ले चलो।"

पालकी दरबार को रवाना हुई।

जगतसिंह सोचते थे, जयसिंह ने राजपूतों के नाम को कलंक लगा दिया। वह कायर है, यह मैं जानता था। परन्तु वह झूठा भी है, इसका मुझे पता न था। उसने पहले मेरे प्रेम की नगरी उजाड़ी थी, अब कीर्ति की दौलत पर डाका मारता है। मैंने एक बार सहन किया, परन्तु अब न करूँगा। पुरस्कार लेने गया था, लज्जित होकर निकलेगा। मैं उसका एक साधारण सैनिक हूँ। कदाचित् वह समझता होगा कि मुझमें यह साहस न होगा। परन्तु मैं उसे दिखा दूँगा कि सचाई में कितना बल है। इसके सामने लक्ष्मी और प्रतिष्ठा दोनों सिर नहीं उठा सकतीं।

इतने में पालकी प्रमदा के मकान के सामने से गुजरी। जगतसिंह

का हृदय धड़कने लगा। पुराने दिनों की स्मृति मस्तिष्क में करवटें बदलने लगी। आँखों में पानी आ गया। सहसा वह छत पर दिखाई दी। जगतसिंह की आँखें उसकी आँखों से मिलीं। प्रमदा की आँखों में दिल रखा था। जगतसिंह की आँखों ने उनमें एक सँदेसा पढ़ा। उस सँदेसे में कैसा दुःख था, कैसी ख़ुशामद। जैसे कटोरी में अधिक जल डाला जाये, तो छलक जाता है, वैसे ही प्रमदा का दुःख और ख़ुशामद आँखों से बाहर छलक रहे थे। जगतसिंह का हृदय काँप गया। उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे वह कह रही है, मेरी लाज तुम्हारे हाथ है। वह दरबार की घटना सुन चुकी थी। उसे विश्वास था, कि जगतसिंह जो कुछ कह देंगे, वही सत्य माना जायगा। महाराणा को उनपर अटल विश्वास था। उन्हें स्वप्न में भी यह विचार न था कि जगतसिंह झूठ बोल सकते हैं। वह उन्हें इस विषय में देवता समझते थे। परन्तु प्रमदा को सन्देह था, कि कहीं सापत्न्य द्वेष से जगतसिंह जयसिंह की प्रतिष्ठा धूल में न मिला दे। जगतसिंह ने अपने घायल शरीर को धीरे से हिलाया गोया पूछा,—"क्या कहती हो ?"

प्रमदा ने चारों ओर देखा। सारा नगर दरबार में था। आस पास कोई देखनेवाला समीप न था। तब उसने हाथ बाँधे और आँखों के आँसू गोरे गालों पर बहाकर कहा, "परमात्मा के लिए जो कहना, सच कहना।"

वह भी जगसिंह को ऐसा कायर न समझती थी, कि युद्ध-क्षेत्र से प्राण बचा कर भाग निकला होगा। और अब झूठ बोलता होगा।

जगतसिंह सब कुछ समझ गये। उनके होठों पर मुस्कराहट की एक रेखा सी आ गई। उन्होंने अपना निर्बल हाथ उठाया और उसके इशारे से प्रमदा को धीरज देते हुए बोले,—"व्याकुल न हो। मैं तुम्हारे लिए इससे भी अधिक कर दिखाऊँगा।"

हृदय की थाह किसने पाई है ? जगतसिंह ने अपना विचार बदल लिया। प्रमदा के लिए उन्होंने अपने प्रेम का गला दबाया था, अब उसी के लिए अपनी कीर्ति लुटाने को तैयार हो गये। जो काम मेवाड़

के सारे सिपाही न कर सकते थे, वह एक स्त्री की करुणा-दृष्टि ने कर दिया। सोचने लगे, मैं मर रहा हूँ। मुझे कीर्ति मिले या न मिले, बराबर है। परन्तु मैं प्रमदा का जीवन क्यों खराब करूँ। जयसिंह की इस नीचता और कायरता से उसका दिल टूट जायगा, उसका सुख उजड़ जायेगा। मैंने उससे प्रेम किया है, क्या अब उसके लिए थोड़ा सा त्याग न करूँगा। त्याग प्रेम की परीक्षा है। बलिदान प्यार की कसौटी है। मैंने पहले भी बलिदान किया है, अब भी बलिदान करूँगा।

पालकी दरबार में पहुँची। चारों ओर शोर मच गया। लोग कहते थे, देखें ऊँट किस करवट बैठता है? जयसिंह का मुख अस्त होते हुए सूर्य्य की नाईं लाल था। सोचता था, मेरी कीर्ति की संध्या आ पहुँची। वह चाहता था, यदि अवसर मिले तो दरबार से निकल जाये, और फिर कभी किसी को अपना मुँह न दिखाये। दिल में कहता था, अगर जगतसिंह ने सच कह दिया तो आँखें न उठेंगी, सारे मेवाड़ में बदनाम हो जाऊँगा, महाराणा साहब दरबार से निकाल देंगे और कदाचित् इससे भी अधिक दण्ड दें।

(५)

महाराणा साहब सिंहासन से उतरे और जगतसिंह की पालकी के समीप आये। दोपहर के समय आधी रात का सन्नाटा छा गया। लोगों के दम भी रुके हुए थे। कोई खाँसता न था, न कोई जोर से साँस लेता था। सचाई का पर्दा उठनेवाला था, परन्तु सबसे अधिक चिन्ता दो मनुष्यों को थी। दरबार में जयसिंह को, नगर में प्रमदा को। महाराणा साहब आगे बढ़े और देश और जाति के सच्चे भक्त पर झुक गये। जगतसिंह ने हाथ बाँधकर प्रणाम किया और कहा—"महाराज की जय हो।"

महाराणा ने अपना हाथ जगतसिंह के सिर पर फेरा और प्रेम से कहा,—"तुम्हें घायल देखकर हमें दुःख हुआ।"

जगतसिंह ने धीरे से उत्तर दिया,—"यह घाव मेरे भूषण हैं, मैंने इन्हें भारत-माता की सेवा करते हुए पाया है। परन्तु, मेरे शरीर से

भी अधिक घायल मेरा हृदय है, और वह घाव मुझे इन घावों से भी प्यारा है। मुझे उसपर मान है। मुझे उसपर गर्व है।"

महाराणा साहब चौंक पड़े। जगतसिंह के हृदय पर कौन सा घाव लगा है, यह वह न जानते थे। वह जगतसिंह और प्रमदा के प्रेम से अपरिचित थे। उन्हें सन्देह होने लगा, कि जयसिंह ने झूठ बोला है, और जगतसिंह इसी घटना की ओर इशारा कर रहा है। इस समय रामसिंह का मुख-मण्डल चमक रहा था। वह सोचता था, सच्चाई जाहिर होनेवाली है।

महाराणा ने पूछा, "तो क्या जयसिंह सचमुच युद्ध-क्षेत्र से भाग निकले थे ?"

दरबार का सन्नाटा और भी गहरा हो गया। लोगों के कान इधर ही लगे हुए थे, जैसे यह उनके जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो। जगतसिह ने कुछ देर सोचा और फिर निश्चय करके उत्तर दिया,—"यह उनपर झूठा कलंक लगाया गया है। वह युद्ध से कभी नहीं भागे।"

सारे दरबार में शोर मच गया—"जयसिंह की जय," "सिपहसालार की जय" के जयकारों ने आकाश हिला दिया। यह जयकारे सुन कर जगतसिंह को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने उसे उठाकर आग में झोंक दिया है। वह प्रमदा के लिए झूठ बोलने पर तैयार हो गये थे, मगर जयसिंह की प्रशंसा के जयकारे उन्हें ज़हर के घूँट मालूम हुए। उस समय उन्होंने सच्ची बात कहने का यत्न किया, परन्तु शब्द उनके कण्ठ में फँस गये; जिस प्रकार रामसिंह का हृदय से निकला हुआ आनंद उसके हृदय ही में अटक गया था। उनको लोगों की जय-ध्वनि ने रोक लिया था। रामसिंह जगतसिंह के असत्य भाषण से सटपटाकर रह गया था, परन्तु उसके हृदय में जगतसिंह का सम्मान कई गुना बढ़ गया था। महाराणा साहब सिंहासन पर चढ़ गये, और उँगली से जयसिंह की ओर इस प्रकार संकेत करके जैसे कोई जादूगर लोगों पर प्रभाव डालता है, एक एक शब्द पर ज़ोर देकर बोले—"जयसिंह विजयी है, उसने देश की जो सेवा की है उसका बदला तो

नहीं दिया जा सकता, तथापि कृतज्ञ होकर मैं उसे राजकुमारी ब्याह दूँगा।"

"जयसिंह की जय" के जयकारे फिर वायुमण्डल में गूँजने लगे। रामसिंह की सिसकियाँ इन जयकारों में डूब गईं। उसकी आँखों में आँसू थे, परन्तु उनकी ओर किसी का ध्यान न था। वह इस समय मूर्च्छित हो गये। उन्होंने महाराणा की आवाज़ न सुनी।

रात को जयसिंह का राज-कुमारी के साथ ब्याह हो गया।

(६)

प्रमदा ने यह सुना तो सन्नाटे में आ गई। उसे यह आशा न थी। जयसिंह के थोड़े दिनों के प्रेम ने उसे विश्वास दिला दिया था कि वह उसे हृदय की तह से प्यार करता है। प्रतीक्षा के दिन उसने जिस प्रकार व्यतीत किये थे यह वही जानती थी। जयसिंह की वापसी पर वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे उसे राजगद्दी मिल जानेवाली हो। परन्तु उसे क्या पता था, कि आशा निराशा में और सुख-दुःख में बदला जायेगा, और उसका जीवन निरंतर असफलताओं की कड़ी बन जायेगा। यह समाचार सुनकर वह शून्य-सी हो गई, मानो फूल की शाखा पर बिजली गिर पड़ी हो। इस आघात से उसकी प्रकृति बहुत दिनों तक न सँभल सकी; दिन-रात रोती रही।

तब उसे जगतसिंह याद आये। सोचने लगी मैंने जो व्यवहार जगतसिंह से किया था, वही जयसिंह ने मुझसे किया है। यह प्राकृतिक नियम है। रूप रंग और पदवी देखकर रीझ गई थी, पर इसमें यह गुण भरे होंगे, यह ज्ञान न था। धीरे-धीरे जगतसिंह का सोया हुआ प्रेम उसके हृदय में जागने लगा, जिस तरह क्रोध उतर जानेपर मनुष्य पर सचाई प्रकट होने लगती है। उस समय वह कैसा दुखी होता है, कितना व्याकुल होकर अपने आपपर झुँझला उठता है। यही दशा प्रमदा की थी। एक दिन जगतसिंह के पुराने पत्र पढ़ने बैठी, गुज़रा हुआ समय आँखों तले फिर गया। कैसे दिन थे, जिनमें वर्तमान का विश्वास न था, परन्तु भविष्य की मोहिनी से भरपूर थे।

मनुष्य वर्तमान काल की असफलताओं और कष्टों पर संतोष कर सकता है, परन्तु आनेवाले दिनों को सुन्दर दृश्य से शून्य नहीं देख सकता। प्रमदा का वर्तमान और भविष्य दोनों अन्धकारमय थे। तब वह बीते हुए दिनों की ओर दौड़ती, परन्तु उन्हें पाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। हारकर जगतसिंह के पत्र पढ़ने में मग्न हो जाती, और उसके चिन्तन में अपने दुःखों को डुबा देती।

परन्तु वह जानती न थी, न जानना चाहती थी कि भविष्य भूत का बेटा है। जहाँ भूत है वहाँ भविष्य का होना निश्चित है और यह प्राकृतिक नियम ऐसा है कि जिसे संसार भर की शक्तियाँ मिलकर भी नहीं तोड़ सकतीं। होते-होते भूतकाल के बारीक परदे में मनोहर भविष्य अपना प्रकाशमय पुंज दिखाने लगा, जैसे कुहरा के मिट जाने-पर आँखों से ओझल हुए मकानों की चोटियाँ दिखाई देने लगती हैं। प्रमदा की प्रकृति सँभल गई, सोचा मैं उनसे क्षमा माँग लूँगी। प्यार ने बलिदान किया था, क्या अब क्षमा न करेगा ?

संध्या-समय था। प्रमदा नगर से बाहर नदी-तट पर पहुँची। यह वही स्थान था जहाँ उससे और जगतसिंह से कई-कई घण्टे प्रेम की बातें हुआ करती थीं। जहाँ लज्जा मुस्कराती थी, कामुकता ओट में खड़ी देखती थी और हँसती थी। जहाँ जगतसिंह के मर्दाना क़हक़हे गूँजते थे। जहाँ उन्होंने प्यार के बीज बोये थे, प्रीति की प्रतिज्ञायें की थीं; स्नेह की सौगन्धें खाई थीं। आज वह समय किधर गया ? प्रमदा की आँखों में आँसू आ गये।

सहसा दूर से कुछ लोग आते दिखाई दिये। प्रमदा का कलेजा धड़कने लगा, हृदय में शंकायें उठने लगीं। वह आदमी निकट आए तो प्रमदा की आँखें आश्चर्य, दुःख, और लज्जा से खुली रह गईं—यह जगतसिंह की अर्थी थी। उसे प्रेम का जीवन प्राप्त न हुआ था, परन्तु उसने प्रेम की मृत्यु मरकर अपनी कसर पूरी कर ली। प्रमदा पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

जब उसे सुध आई, उस समय उसके माता-पिता उसके सामने

बैठे थे। उसे होश में देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए। मा ने पूछा—"क्यों बेटी! अब क्या हाल है?"

प्रमदा ने करवट बदलकर उत्तर दिया—"अब तो अच्छा है?"

"और यह तुझे हुआ क्या था? क्या कोई रोग है?"

प्रमदा ने सिराहना खींचकर अपनी गोद में रख लिया और चारपाई पर बैठ गई। इसके बाद कुछ विचित्र-सी दृष्टि से जिसमें लज्जा, पश्चात्ताप, निराशा और पागलपन के लक्षण दिखाई देते थे, माता और पिता दोनों की ओर बारी-बारी से देखा और फिर एक बार जल्दी से यह शब्द कह गई—

"वह मर गये हैं और उनके साथ मेरा प्रेम भी मर गया है। अब इस संसार में मेरे लिए क्या रखा है? मैं यहाँ न रहूँगी। तुम मुझे कुछ न कहो।"

आधी रात को जब संसार निद्रा के सागर में डूबा हुआ था, प्रमदा ने अपने घर का दरवाज़ा खोला और धीरे-धीरे नगर से बाहर निकल गई।

इसके बाद उसे किसी ने नहीं देखा।

प्रबला

[नाटक]

पात्रः—मूलराज—जैसलमेर के महाराज।
रायसिंह—जैसलमेर के राजकुमार।
अनूपसिंह—जैसलमेर के सेनापति।
ज़ोरावरसिंह—अनूपसिंह का लड़का।
प्रबला—अनूपसिंह की बहादुर स्त्री।
ईरा—अनूपसिंह की बहन।

पहला दृश्य

जैसलमेर के सेनापति का घर।

समय संध्या।

(प्रबला और ईरा।)

प्रबला—

तीन महीने बीत चुके, और अभी तक महाराज बन्दीगृह में हैं। वे दिल में क्या कहते होंगे? सोचते होंगे, मेरी प्रजा मुझे भूल गई। सब विद्रोहियों के साथ मिल गये, मेरी चिन्ता किसी को नहीं। मेरा किसी को ख्याल नहीं आता।

ईरा—

और बिलकुल निर्दोष हैं।

प्रबला—

बिलकुल निर्दोष, सिवा इसके कि उन्होंने भूल से एक ऐसे व्यक्ति को मंत्री नियुक्त कर दिया, जो इस महान् पद के योग्य न था।

ईरा—

परन्तु वह तो कभी का मारा जा चुका है। फिर अब महाराज को क़ैद रखने की क्या ज़रूरत है ?

प्रबला—

जिन लोगों ने मंत्री का वध किया है, उनको डर है, कि महाराज उनसे इस उपद्रव का उत्तर माँगेंगे और जो संतोष-जनक उत्तर न दे सकेंगे, उनको सख़्त सज़ा देंगे।

ईरा—

और सचमुच महाराज ऐसे विद्रोहियों को कभी क्षमा न करेंगे। यह उनके स्वभाव के विरुद्ध है।

प्रबला—

और उनका लड़का रायसिंह भी उनका विरोध करता है।

ईरा—

कौन कहता है ?

प्रबला—

मैंने हर किसी से यही सुना है। सब लोग यही कहते हैं।

ईरा—

मगर यह झूठ है। रायसिंह अपने पिता के वियोग में हर समय घबराया रहता है। उसकी सजल आँखों से उसके उदास चेहरे से, उसकी बावलों की सी बातों से साफ़ प्रकट होता है, कि उसका दिल इस शोक में विह्वल रहता है। वह अभी तक खाट पर बैठकर काम करता है। अर्थात् वह अपने आपको युवराज समझता है, राजा नहीं समझता। वह महाराज के लिए व्याकुल है।

प्रबला—

मैंने यह बात आज से पहले कभी नहीं सुनी थी।

ईरा—

महाराज की इस विपत्ति में राजकुमार का कोई भाग नहीं है।

प्रबला—

अगर यह बात सच है, तो वह महाराज को छुड़ाने का यत्न क्यों नहीं करता ?

ईरा—

उसे अभी तक मालूम नहीं, कि महाराज कहाँ क़ैद हैं ? अगर मालूम हो जाता, तो वह जैसलमेर की ईंट से ईंट बजा देता, अपने देश के एक-एक सिपाही को निछावर कर देता, अपने जीवन और स्वाधीनता दोनों की परवा न करता, और जैसे भी होता, महाराज को छुड़ा लेता।

प्रबला—

अच्छा बहन ! मुझे यह तो बताओ, कि जब राजकुमार भी महाराज के पक्ष में हैं, और प्रजा भी महाराज को चाहती है, तो फिर ऐसा कौन आदमी है, जो महाराज को क़ैद रख सके। मेरे विचार में तो ऐसा साहस जैसलमेर के किसी आदमी को नहीं हो सकता।

ईरा—

हो सकता है, प्रबला ! हो सकता है।

प्रबला—

(आश्चर्य्य से) किसे ?

ईरा—

जाने दो इन बातों में क्या धरा है ? हम स्त्रियाँ हैं। हम घर के अन्दर रहती हैं। हमको राज्य के कामों से कोई सम्बन्ध नहीं।

प्रबला—

ईरा ! तुमसे यह किसने कहा है कि हमारा काम घर के अन्दर और केवल घर के अन्दर है, और हमको राज्य के कामों से कोई संबन्ध नहीं ?

ईरा—

सारी दुनिया यही कहती है। मैंने हर स्त्री और हर पुरुष के मुँह से यही सुना है, और इसका कोई प्रतिवाद नहीं करता।

प्रबला—

परन्तु यह ठीक नहीं है।

ईरा—

ठीक नहीं है? क्या मतलब?

प्रबला—

मतलब यह कि हमारा काम घर के अन्दर है। मगर किस समय? जब हमारे देश में शान्ति हो, जब हमारी जाति को किसी तरह का कोई भय न हो, जब हमारी जन्म-भूमि उन्नति और अभ्युदय के रोशन रास्ते में आगे बढ़ी जा रही हो। उस समय निस्संदेह हमारा काम यही है कि हम अपनी सारी शक्ति, सारी प्रतिभा, और सारी विद्या अपने घर की उन्नति के लिए समर्पण कर दें। परन्तु जब हमारा राजा विपत्ति में फँसा हो, जब हमारे देश पर विनाश की काली घटा छा रही हो, जब हमारा भविष्य अनिश्चित हो, उस समय हमारा काम ही नहीं, बल्कि धर्म है, कि हम अपने घर की शान और शान्ति को अपने देश के हित पर निछावर कर दें और घर से बाहर निकलें।

ईरा—

घर से बाहर निकलें?

प्रबला—

हमारा काम घर के अन्दर है, मगर किस समय? जब बाहर का काम हमारे वीर पुरुषों ने सँभाल रखा हो। परन्तु जब वह अपना धर्म न समझते हों, या न समझ सकते हों, तो हमारा धर्म है कि अपने घर के काम को लात मार दें, और बाहर की विशाल दुनिया और उसके युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करें, और अपने पुरुषों पर सिद्ध कर दें, कि हम जो घर के अंदर बंद पड़ी रहती हैं, उनमें यह शक्ति भी है, कि उनकी भूल को सुधार सकें, और उन्हें कंधों से पकड़कर बता सकें कि तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। तुम्हारा रास्ता यह है। तुम्हें इस रास्ते पर चलना चाहिए।

ईरा—

तुम्हारी बातें अद्भुत हैं !

प्रबला—

(शान्त होकर) तो मुझे बताओ, वह आदमी कौन है, जो महाराज और राजकुमार दोनों की परवा नहीं करता ? मैं उसका नाम सुनूँगी।

ईरा—

मैं स्त्री हूँ। मैं घर के अन्दर रहती हूँ। मुझे यह सब कुछ कैसे मालूम हो सकता है ? ज़रा सोचो तो सही।

प्रबला—

तुम झूठ बोल रही हो।

ईरा—

यह बात मुझसे न पूछो, मैं न बताऊँगी।

प्रबला—

ईरा !

ईरा—

तुम्हें विश्वास न होगा।

प्रबला—

मैं तुम्हारी हर एक बात मानने को तैयार हूँ।

ईरा—

तुम नाराज़ हो जाओगी।

प्रबला—

मैं राजपूतनी हूँ और राजपूतनी सच्ची बात पर कभी नाराज़ नहीं होती—तुम मेरी जाति का अपमान करती हो। बोलो वह कौन है। मेरा धीरज छूटा जा रहा है।

ईरा—

मगर तुम्हें इससे कोई लाभ न होगा। इसलिए ज़िद न करो, और जो कुछ हो रहा है, होने दो।

प्रबला—

मैंने निश्चय कर लिया है कि आज आधी रात से पहले पहल महाराज को छुड़ा लूँगी।

ईरा—

यह कभी न होगा, यह कभी नहीं हो सकता।

प्रबला—

यह ज़रूर होगा। यह राजपूतनी की प्रतिज्ञा है।

ईरा—

मगर बहन! (नरमी से) वह आदमी तुम्हारा सगा संबन्धी है। इसलिए तुमसे कुछ न हो सकेगा।

प्रबला—

(सोचते हुए) मेरा सगा संबन्धी है? मुझसे कुछ न हो सकेगा? ईरा! यह तुमने क्या कहा? बताओ वह कौन है? क्या वह मेरा पिता है?

ईरा—

नहीं।

प्रबला—

क्या मेरा देवर है? क्या मेरा भाई है? क्या वह मेरा मामा है?

ईरा—

नहीं।

प्रबला—

तो फिर कौन है? ओह ईरा! ईरा!! कहो वह कौन है? बताओ वह कौन है?

ईरा—

वह (धीरे से) तुम्हारा पति है!

प्रबला—

जो सुपने में भी न सोचा था, वह हुआ। मैं समझती थी, मुझे शक्ति से लड़ना होगा। और मुझे विश्वास था, मैं शक्ति से लड़

लूँगी। मगर यह आशंका न थी, कि मेरे सामने उनका प्रेम आकर खड़ा हो जायगा। स्त्री बल को जीत सकती है, परन्तु प्रेम और फिर वह भी पति का प्रेम—इससे संग्राम करने की हिम्मत दुनिया के किसी नारी-हृदय में न होगी। यहाँ आकर नारी बेबस हो जाती है।

ईरा—

बहन प्रबला! तुम क्या सोचती हो? यह पुरुषों के काम हैं, वह आप कर लेंगे।

प्रबला—

मगर ईरा! महाराज क़ैद हैं। हम लोग हँसते हैं, खेलते हैं, जो चाहते हैं, करते हैं। आज़ादी की नीन्द सोते हैं। आज़ादी की हवा में साँस लेते हैं, और वह, (ठण्डी साँस लेकर) पता नहीं उनका दिल क्या कहता होगा? (थोड़ी देर बाद) ईरा!

ईरा—

हाँ भाभी!

प्रबला—

मैं तुमसे एक बात और पूछना चाहती हूँ। प्रतिज्ञा करो बताओगी ना?

ईरा—

मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि तुमसे अब कोई बात न छिपाऊँगी।

प्रबला—

महाराज कहाँ क़ैद हैं?

ईरा—

इधर आओ। (खिड़की के सामने ले जाकर) वह देखो, सामने एक छोटा सा मकान है, जिसके दरवाज़े पर एक सिपाही पहरा दे रहा है। हमारे महाराज वहीं क़ैद हैं।

प्रबला—

इस मकान में? मेरे घर के पास? कदाचित् मुझे पहले पता होता, तो महाराज बहुत दिन पहले छूट चुके होते।

ईरा—

मगर भाभी ! यह काम इतना आसान नहीं, जितना आसान तुम समझ रही हो। क़दम क़दम पर दिक़्क़तें हैं।

प्रबला—

जब स्त्री किसी काम का निश्चय कर ले, तो हर एक दिक़्क़त डरपोक जानवरों के समान परे भाग जाती है। आज आधी रात के बाद महाराज क़ैदख़ाने में न होंगे। स्त्री स्वाभाविक रूप से विवश होती है ? परन्तु जब कुछ करने पर उतारू हो जाये, तो शेरनी बन जाती है। उस समय उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता। यहाँ तक कि जंगल के तूफ़ान और आँधियाँ भी उससे पनाह मांगती हैं। (प्रस्थान)

ईरा—

कैसी बहादुर स्त्री है ? इस समय उसकी आँखों में कैसी ज्योति थी, मुँह पर कैसा तेज ? मालूम होता था, यह वह प्रबला ही नहीं। अपने पति से इसे बहुत प्यार है। उसका नाम सुनकर बावली हो जाती है। उसके दर्शन से इसकी देह हरी हो जाती है। उसे चाहती है, समस्त हृदय से प्यार करती है, उसके बिना रह नहीं सकती। और अब उससे लड़ेगी, उसके प्यार से लड़ेगी ! विश्वास नहीं होता। स्त्री की आग पति के प्रेम के सामने पानी हो जायगी—स्त्री कुछ नहीं कर सकेगी। पति मुस्कराकर जीत जायेगा। (प्रस्थान)

(एक़ तरफ़ से प्रबला सिपाहियों के लिबास में आती है,
दूसरी ओर से ज़ोरावरसिंह आता है।)

ज़ोरावरसिंह—

(पहचानकर) अरे यह कौन सिपाही है, जो हमारे महल में आन घुसा है इस दिलेरी से ?

प्रबला—

(मुस्कराकर) मेरा नाम प्रबलसिंह है।

ज़ोरावरसिंह—

तो भाई प्रबलसिंह! यह तुमने हथियार क्यों पहने हैं? आज-कल कोई लड़ाई तो नहीं हो रही? और अगर हो रही है, तो मुझे बता दे, ताकि मैं भी तैयार हो जाऊँ? मैं पीछे न रहूँगा। मैं भी सिपाही हूँ। लड़ने-भिड़ने का मुझे भी शौक़ है। मरने-मारने से मैं भी नहीं डरता।

प्रबला—

(ज़ोरावरसिंह से) छोटे सिपाही! क्या तुझे भी लड़ने-भिड़ने का शौक़ है?

ज़ोरावरसिंह—

अजी जनाब! जब मैं सिपाही हूँ, तो मुझे लड़ने-भिड़ने का शौक़ क्यों न होगा?

प्रबला—

(कंधे पर हाथ धरकर) मगर तू अभी छोटा है ना, इसलिए मैंने सोचा कि—

ज़ोरावरसिंह—

तो फिर क्या हुआ? छोटा काँटा तो ज़्यादा तेज़ होता है। छोटी सुई ज़्यादा नुकीली होती है। इसी तरह छोटा सिपाही ज़्यादा बहादुर होता है।

प्रबला—

(हँसकर) तो छोटे सिपाही! ले सुन!! वह जो सामने मकान दिखाई देता है, उसमें महाराज मूलराज क़ैद हैं।

ज़ोरावरसिंह—

अच्छा! फिर?

प्रबला—

मैं उन्हें छुड़ाने जा रहा हूँ।

ज़ोरावरसिंह—

वहाँ लड़ाई होगी क्या?

प्रबला—

ज़रूर होगी।

ज़ोरावर—

वहाँ ख़तरा है क्या ?

प्रबला—

ज़रूर होगा !

ज़ोरावर—

और तुमने यह हथियार इसी लिए पहने हैं ?

प्रबला—

हाँ, मेरे बहादुर सिपाही ! इसी लिए।

ज़ोरावर—

(गम्भीरता से) तुम्हारे पास तलवार है या नहीं ? अगर है, तो म्यान से बाहर निकालो।

प्रबला—

परन्तु क्यों ?

ज़ोरावर—

पहले अपने पुत्र का सिर काट लो, इसके बाद तुम घर से बाहर पाँव रखना।

प्रबला—

अरे ! यह छोटा सिपाही तो बड़ा बहादुर निकला !

ज़ोरावर—

मा ! अन्दर जाओ ! यह कपड़े उतार दो। तलवार मुझे दो, तुम्हारी आज्ञा का पालन मैं करूँगा। तुम मा हो, मा बनके रहो। लड़ना हमारा—हम मर्दों का काम है।

प्रबला—

और हम स्त्रियों का क्या काम है ?

ज़ोरावर—

स्त्रियों का काम प्यार करना है।

प्रबला—

(प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) जीता रह। बेटा! जीता रह। तेरी मा तुझे आशीर्वाद देती है। मगर अभी तू छोटा है इसलिए—

ज़ोरावर—

मगर मेरा दिल छोटा नहीं है। मैं तुम्हारा पुत्र जीता हूँ, और तुम मा हथियार पहनकर बाहर निकलो, यह मुझसे सहन न होगा। (तलवार छीनकर) यह मुझे दो, और तुम अंदर जाकर बैठो। अभी राजपूत इतने निर्लज्ज नहीं हुए—अभी ज़ोरावरसिंह, तेरा बेटा जीता है। अभी तेरे बेटे की वीरता जीती है।

प्रबला—

आग की ज्वाला को जलना किसने सिखाया है? सिंह के बच्चे को बहादुरी का पाठ कौन पढ़ाता है? मेरा पुत्र जन्म से सूरमा है, मैं धन्य हूँ। मेरा दूध सफल हुआ। बेटा जा, यह तेरी पहली परीक्षा है। विजय-पताका लहराता हुआ वापिस आ। तेरी मा तेरी राह देखेगी।

ज़ोरावर—

(एकाएक उदास होकर) मगर मा!

(ज़ोरावरसिंह सिर झुका लेता है।)

प्रबला—

क्यों बेटा! तू उदास क्यों हो गया?

ज़ोरावर—

वह जो पहरेदार है ना, मैं उसे तो मार गिराऊँगा, पर जब पिताजी सामने आ जायँ, तो फिर क्या करूँ?

प्रबला—

उनकी एक न सुनना।

ज़ोरावर—

मगर वह पिता हैं। उनकी एक न सुनूँगा, तो वह गुस्से होंगे।

प्रबला—

और मैं मा हू। तुझे मैंने पाला है। तुझे मैंने खिलाया है। तेरे लिए दुःख मैंने सहे हैं। इस समय तेरे हाथ में तलवार मैंने दी है। इसलिए तुझे मेरी बात माननी चाहिए। और मैं कहती हूँ तू उनकी एक न सुनना।

ज़ोरावर—

और अगर वह लड़ने को तैयार हो जायें, तो फिर क्या करूँ मैं?

प्रबला—

यही तलवार उनके सीने में घोंप देना।

ज़ोरावर—

मा—

प्रबला—

बस, बस! मैं और कुछ नहीं सुनना चाहती। यह मेरी आज्ञा है, तुझे इसका पालन करना होगा। नहीं तो मैं तुझे शाप दूँगी; और पुत्र को मा के शाप से बचानेवाली शक्ति इस असार संसार में कहीं नहीं है।

ज़ोरावर—

बहुत अच्छा! पुत्र मा की आज्ञा का पालन करेगा। मगर, मा सोच ले, तेरा हुक्म—

प्रबला—

मैंने सोच लिया है।

ज़ोरावर—

मगर इसका परिणाम? अगर पिताजी—

प्रबला—

मगर बेटा ! वह सिर्फ़ तेरे ही पिता नहीं, मेरे भी कुछ हैं। उनके दुःख से मुझे भी दुःख होता है। स्त्री के हृदय में पति की जो श्रद्धा होती है, और होनी चाहिए, उससे मैं वंचित नहीं हूँ। परन्तु राजा के जो अधिकार प्रजा पर हैं, मैं उनकी तरफ़ से भी आँखें बन्द नहीं कर सकती। भारत-ललना पति पर निछावर हो सकती है, पुत्र के लिए सारा जीवन दुःख में बिता सकती है। परन्तु अपने राजा के लिए जो स्त्री अपना सर्वस्व छोड़ नहीं सकती वह अपने देश से विद्रोह करती है—और यह पाप मुझसे कभी न होगा। यह मेरे स्वभाव में नहीं है।

ज़ोरावर—

तो अगर पिताजी मेरे हाथ से—

प्रबला—

(काँपकर) उस समय भी मैं अपना धर्म्म न छोड़ूँगी, और उनके साथ सती हो जाऊँगी। यह प्रजा का धर्म्म है, वह पत्नी का धर्म होगा। मैं दोनों को पूरा करूँगी।

ज़ोरावर—

मेरी मा कितनी बहादुर, कैसी निर्भय है ? उसके पुत्र का मुक़ाबला करना आसान नहीं। मा ! तुम यह मर्दाना कपड़े उतार दो, महाराज मूलराज को मैं छुड़ाऊँगा।

(ज़ोरावरसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

प्रबला—

परमात्मा ! मेरे स्वामी की और मेरे पुत्र की रक्षा कर। मगर इससे भी पहले मेरे महाराज की रक्षा कर। मेरे लिए महाराज पति और पुत्र से भी बढ़कर हैं।

दूसरा दृश्य

राजकुमार रायसिंह का महल।

समय—वही संध्या।

(अनूपसिंह और रायसिंह बातें कर रहे हैं।)

रायसिंह—

मेरे ख़याल में यह आपकी भूल है।

अनूपसिंह—

नहीं राजकुमार! यह मेरी भूल नहीं है। क्या आपको याद नहीं, कि जब आपने मन्त्री पर आक्रमण किया था, तो महाराज की आँखें अग्निमय हो गई थीं। इसके बाद जब मन्त्री ने महाराज के पीछे छिपकर जान बचाने की चेष्टा की, उस समय भी महाराज ने उसकी रक्षा की थी। और यदि आपकी तलवार ज़रा भी इधर-उधर हो जाती, तो मन्त्री की जगह वह आप मारे जाते।

रायसिंह—

यह सब सच है। मगर जब मंत्री क़त्ल हो चुका है, उसके सहायक अपनी जान छिपाते फिरते हैं, और अब उसकी कोई चर्चा नहीं करता, तो अब महाराज को क़ैद रखना निष्फल है। अब उन्हें छूट जाना चाहिए।

अनूपसिंह—

महाराज के छूटते ही मुक़दमा शुरू हो जायगा और हर व्यक्ति को जो इस मामले में शामिल था, दण्ड मिलेगा। और यह ऐसी बात है, जिससे सोता हुआ झगड़ा फिर जाग उठेगा, और देश में अशान्ति फैल जायेगी।

रायसिंह—

मगर महाराज को इससे क्या लाभ होगा?

अनूपसिंह—

इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता, मगर राज-दरबार के सारे सरदारों का यही ख्याल है।

रायसिंह—

यह उनकी भूल है। महाराज ऐसा कभी न करेंगे।

अनूपसिंह—

ख़ुद आप भी इस ख़तरे से बाहर नहीं।

मैं! (आश्चर्य्य से) मैं! क्या महाराज मुझे भी दण्ड देंगे? सेनापति! यह तुम क्या कह रहे हो?

अनूपसिंह—

जो कह रहा हूँ, ठीक कह रहा हूँ। मैं उनका स्वभाव अच्छी तरह जानता हूँ, और देर से जानता हूँ।

रायसिंह—

पिता अपने पुत्र को दण्ड देगा? (सोचकर) नहीं, यह नहीं होगा, यह नहीं हो सकता।

अनूपसिंह—

यह हो सकता है, यह ज़रूर होगा।

रायसिंह—

सेनापति! वे मुझे बहुत चाहते हैं—मैं उनका बेटा हूँ।

अनूपसिंह—

परन्तु राजकुमार! महाराज हैं, और महाराज जब न्याय के सिंहासन पर बैठते हैं, तो उनकी आँखों में अपना पराया सब एक समान होता है। वे किसी की रिआयत नहीं करते।

रायसिंह—

और मैंने मंत्री को अपने हाथ से कत्ल किया है।

अनूपसिंह—

इसलिए सबसे अधिक भय आप ही को है, और आप ही का ख़याल है, जो मेरा रास्ता रोक लेता है, नहीं तो मैं ज़रूर यत्न करता, कि महाराज बहुत जल्द छूट जायँ।

रायसिंह—

(चिन्तित भाव से) तो इसका यह अर्थ है कि महाराज—

अनूपसिंह—

अभी कुछ देर और क़ैद रहें।

रायसिंह—

पर कितनी देर? आख़िर कोई हद होनी चाहिए। तीन महीने बीत चुके हैं, मैं बाहर, स्वाधीन हूँ, और वे क़ैदख़ाने में......(आखें सजल हो जाती हैं।)

अनूपसिंह—

मगर वे बूढ़े हैं। उन्होंने बहुत शासन कर लिया है। अब उनका जीवन कब तक......

रायसिंह—

(बात काटकर) बस सेनापतिजी! ज़रा सोच-समझकर! पिता के सम्बन्ध में कोई ऐसा कटु वचन न कह जाना, जिसे पुत्र का गर्म लहू सहन न कर सके।

अनूपसिंह—

राजकुमार मेरा अभिप्राय यह था, कि अब महाराज शासन का भार अपने आप आपके कंधों पर रख देंगे।

रायसिंह—

हूँ; (कुछ सोचने के बाद एकाएक चौंककर) देखिए, अब मैंने निश्चिय कर लिया है, कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, महाराज आज

आज़ाद हो जायँगे। वे मेरे पिता हैं—मैं उनके हाथ से हर-एक सज़ा भुगतने को तैयार हूँ।

अनूपसिंह—

मगर हम, आपके सेवक यह कैसे देख सकेंगे? महाराज! कुछ सोचिए तो सही।

रामसिंह—

सब सोच चुका।

अनूपसिंह—

देश में फ़साद हो जायगा।

रायसिंह—

मैं तलवार लेकर पहले फ़साद मिटाऊँगा, फिर महाराज को सिंहासन पर बैठाकर अभियुक्त के समान उनके सामने हाज़िर हो जाऊँगा और कहूँगा, मैं हाज़िर हूँ, मुझे सजा दीजिए।

अनूपसिंह—

यह आप क्या कह रहे हैं?

रायसिंह—

वे मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ। उनकी क़ैद का ख़याल मुझे हर समय दुःखी रखता है। कहिए! वह कहाँ क़ैद हैं, मैं अभी जाकर उनको बाहर लाता हूँ। मुझे राजसिंहासन, ताज, शासन और किसी वस्तु की कोई इच्छा नहीं, मुझे केवल उनका ख़याल है। मैं उनकी रिहाई चाहता हूँ।

अनूपसिंह—

तो आपने यही निश्चय किया है?

रायसिंह—

यही! मैं और कोई युक्ति नहीं सुनना चाहता।

अनूपसिंह—

बहुत अच्छा! महाराज कल क़ैदखाने से बाहर होंगे।

रायसिंह—

मुझे खुशी हुई।

अनूपसिंह—

कोई और आज्ञा?

रायसिंह—

सारे सरदारों से कह दो, कि उनके स्वागत के लिए तैयार हो जायँ। मैं उनके क्रोध की अग्नि को प्रेम और विनय के ठण्डे जल से सर्द कर दूँगा।

अनूपसिंह—

सारे सरदार कल इस समय से पहले पहले जैसलमेर से बाहर चले जायँगे।

रायसिंह—

आप उनको रोकेंगे।

अनूपसिंह—

मैं स्वयं उनके साथ हूँगा।

रायसिंह—

(खड़े होकर) यहाँ तक मजाल!

अनूपसिंह—

यहाँ पुराना महाराजा आयेगा, पर पुराने सरदारों में से एक भी यहाँ न होगा। सब देश से बाहर होंगे।

रायसिंह—

आप मुझे धमकाना चाहते हैं?

अनूपसिंह—

मैं यह शब्द कभी न कहूँगा। मैं आपका सेवक हूँ। आप मेरे राजकुमार है।

रायसिंह—

जैसलमेर रहे या नष्ट हो जाय, मगर महाराज क़ैद न रहेंगे। बोलो! वे कहाँ क़ैद हैं?

अनूपसिंह—

वे कल संध्या के समय आज़ाद होंगे।

रायसिंह—

मैं कल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मैं उन्हें आज आज़ाद देखना चाहता हूँ। बोलो, वे कहाँ क़ैद हैं?

अनूपसिंह—

यह मुझसे इस समय न पूछिए।

रायसिंह—

(एक एक शब्द पर ज़ोर देकर) बताओ। वे कहाँ क़ैद हैं? मैं जैसलमेर का महाराजा तुम्हें हुक्म देता हूँ।

अनूपसिंह—

महाराज.........।

रायसिंह—

तो गोया तुम इनकार करते हो? अब जैसलमेर का महाराजा अपने नौकरों के हाथ में कठपुतली बनकर रहेगा? ओह! यह नहीं सहा जाता। सेनापति!

अनूपसिंह—

महाराज! यह (तलवार फेंककर) तलवार लीजिए, और मेरा सिर काट दीजिए। मैं मरने के लिए तैयार हूँ।

रायसिंह—

तुम मरने को तैयार हो, मगर तुम यह न बताओगे, कि महाराज कहाँ हैं ?

अनूपसिंह—

जब तक सारे सरदार जैसलमेर की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते, उस समय तक उस जगह का पता आकाश के देवताओं को भी न लगेगा। यह असम्भव है।

रायसिंह—

(हैरानी से) असम्भव !

अनूपसिंह—

यह मेरा धर्म्म है।

रायसिंह—

क्या मतलब ?

अनूपसिंह—

हमने षड़यन्त्र किया था, और षड़यन्त्र अपराध है। परन्तु अब उससे भी बड़ा अपराध न करूँगा। मैंने उनसे प्रतिज्ञा की थी, कि महाराज के छूटने से पहले उन्हें सूचना देकर बचाव का मौका दे दूँगा, और मैं इसे पूरा करूँगा। प्राण दूँगा, प्रण न दूँगा। आप मुझे क्षमा करें। मैं आपका सेवक हूँ।

रायसिंह—

बहुत अच्छा ! कल ही सही........तो अब इस समय आप जा सकते हैं। मगर कल याद रहे। मैं और इंतज़ार नहीं कर सकता।

अनूपसिंह—

राजकुमार की जय हो! (अनूपसिंह सिर झुकाकर चला जाता है।)

रायसिंह—

सब सरदार चले जायँगे, सेनापति भी चला जायेगा, तो जैसलमेर

का क्या बनेगा ? खैर देखा जायगा। कदाचित् मुझे मालूम हो जाये, कि महाराज कहाँ क़ैद हैं, तो जैसलमेर इस विपत्ति और विनाश से बच सकता है। सरदारों को भय है कि महाराज उनको सख़्त सज़ायें देंगे। उन्होंने महाराज की सेवा में अपने सिर के बाल सफ़ेद किये हैं, परन्तु उनके स्वभाव को आज तक नहीं पहचाना। अगर पहचानते, तो महाराज से इस तरह न डरते। अगर पहचानते, तो आज यह कठिनाई मेरे सामने उपस्थित न होती। अगर किसी तरह मुझे मालूम हो जाय, कि वे कहाँ क़ैद हैं, तो मैं अभी जाकर उन्हें रिहा कर दूँ। कोई मुझे बता दे, कोई मुझे पता दे, मैं उसे मुँह-माँगा इनाम देने को तैयार हूँ। (किसी के पाँव की चाप) कौन है ?

(एकाएक प्रबला सिपाहियों के वेष में प्रवेश करती है।)

प्रबला—

आपकी तुच्छ प्रजा—जैसलमेर की एक स्त्री।

रायसिंह—

(पहचानकर) माता प्रणाम ! आप इस तरह—इस मर्दाना लिबास में !

प्रबला—

मैं तुम्हें वह जगह बता सकती हूँ।

रायसिंह—

जहाँ महाराज बन्द हैं ?

प्रबला—

मगर मैं मुँह-माँगा इनाम लूँगी।

रायसिंह—

मैं सब कुछ दूँगा।

प्रबला—

तो उठो ! हथियार पहनो, और मेरे महल के सामने जो छोटा सा मकान है, उसके दरवाज़े पर जल्द से जल्द पहुँच जाओ।

रायसिंह—

वहाँ क्या है ?

प्रबला—

ज़ोरावरसिंह कुछ सिपाहियों को साथ लेकर वहाँ गया है, ताकि महाराज को छुड़ा लाये। मगर वह अभी छोटा है; मैं उसकी सहायता को जा रही हूँ।

रायसिंह—

मगर सेनापति—

प्रबला—

(बात काटकर) शायद उनकी तलवार अपने पुत्र और पत्नी के विरुद्ध न उठेगी।

रायसिंह—

माता ! तू अपने आपको ख़तरे के मुँह में डाल रही है।

प्रबला—

राज-भक्ति बच्चों का खेल नहीं है।

रायसिंह—

परन्तु सम्भव है कि—

प्रबला—

तुम चिन्ता न करो। मैं महाराज के लिए सब कुछ निछावर कर देने को तैयार हूँ।

रायसिंह—

कितने पवित्र भाव हैं।

प्रबला—

बेटा ! बातों में समय न खो, उठ, हथियार पहन, और जितने सिपाही तेरे साथ आ सकें, उनको लेकर वहाँ पहुँच जा। इस समय एक-एक क्षण अनमोल है (प्रस्थान)

रायसिंह—

कितनी बहादुर स्त्री है ! मगर वह क्या इनाम है, जिसे जीतने के लिए यह अपने पति की भी परवा नहीं करती। कहीं वह—मगर नहीं, वह नेक है। उसके मुँह पर पाप की ज़रा भी छाया नहीं। और यह फिर देखा जायगा, इस समय मुख्य काम महाराज को छुड़ाना है।

(तेज़ी से चले जाते हैं।)

—— ——

तीसरा दृश्य

स्थान—बन्दीगृह।

समय—वही सन्ध्या।

बंदीगृह के संरक्षक और ज़ोरावर के सिपाही लड़ रहे हैं। अनूपसिंह हथियार पहने आता है, और यह दृश्य देखकर चौंक उठता है।

अनूपसिंह—

यह कौन है, जिसने इतना साहस किया है ? जैसलमेर के सूरमा सिपाहियो ! तुम्हारे देश को अभी तुम्हारी आवश्यकता है, अपने आपको घर की फूट में नष्ट न करो, और तलवारें झुका लो। मैं तुम्हारा सेनापति हूँ।

एक सिपाही—

हम अपने सरदार के सिवा और किसी को नहीं जानते।

अनूपसिंह—

पर तुम्हारा सरदार कौन है ?

(ज़ोरावरसिंह का तलवार लिये हुए प्रवेश।)

सिपाही—

हमारे सरदार यह हैं।

अनूपसिंह—

कौन ज़ोरावरसिंह ? यह सिपाही कहाँ से लिये ?

ज़ोरावरसिंह—

राजकुमार ने भेजे हैं।

अनूपसिंह—

मगर तुम यहाँ क्या करना चाहते हो ?

ज़ोरावरसिंह—

यहाँ महाराज मूलराज क़ैद हैं।

अनूपसिंह—

हैं, फिर ?

ज़ोरावरसिंह—

वे जैसलमेर के राजा हैं।

अनूपसिंह—

हैं ! तो ?

ज़ोरावरसिंह—

मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ।

अनूपसिंह—

क्या बकते हो तुम ? वह समय गया, जब वे महाराज थे। इस समय वे महाराज नहीं हैं।

ज़ोरावरसिंह—

वे पहले भी महाराज थे, अब भी महाराज हैं।

अनूपसिंह—

तुम्हारी यह मजाल ? पीछे हट जाओ।

ज़ोरावरसिंह—

मुझे रोकने की शक्ति किसमें है ? सिपाहियों ! इन्हें परे हटा दो। यह मेरी आज्ञा है।

अनूपसिंह—

सावधान! मेरे निकट कोई न आये, मैं कत्ल कर दूँगा। मैं सेनापति हूँ।

ज़ोरावरसिंह—

नहीं, इन्होंने महाराज को कैद किया है। सिपाहियों! तुम्हारे महाराज को इन्होंने क़ैद किया है। मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ। तुम इन्हें परे हटा दो। यह तुम्हारे सेनापति नहीं हैं।

अनूपसिंह—

कमीने, गुस्ताख लड़के! ज़रा सँभलकर बोल, मेरा क्रोध न जगा। (ज़ोरावरसिंह अन्दर जाना चाहता है।) तू कहाँ जा रहा है?

ज़ोरावरसिंह—

मैं महाराज की बेड़ियाँ काटकर उन्हें बाहर लाऊँगा। अब वे क़ैद न रहेंगे।

(ज़ोरावरसिंह अन्दर जाने को फिर मुड़ता है।)

अनूपसिंह—

दरवाज़े के पास न जा, वहाँ तेरी मौत खड़ी है।

ज़ोरावरसिंह—

पिताजी! राजपूत का बेटा मौत को बिल्ली का बच्चा समझता है। मैं उसके साथ बाल्यावस्था से खेलता आया हूँ। मुझे मौत के नाम से डराने का यत्न न कीजिए, मुझे मौत की ज़रा परवा नहीं। मैं मौत से नहीं डरता।

अनूपसिंह—

आगे न बढ़। तुझे पछताना पड़ेगा।

ज़ोरावरसिंह—

महाराज! यह असम्भव है। मैं अन्दर जाऊँगा, मुझे कोई आदमी नहीं रोक सकता। मुझे कोई आदमी नहीं रोकेगा।

अनूपसिंह—

और अगर कोई रोके, तो फिर ?

ज़ोरावरसिंह—

उसकी भी वही दशा होगी, जो उस पहरेदार की हो चुकी है। ज़रा पहले उसे देख लीजिए।

अनूपसिंह—

(लाश को देखकर) तो तुमने उसे क़त्ल कर दिया ?

ज़ोरावरसिंह—

उसने मेरा रास्ता रोका था, और अब भी जो मेरे सामने आयेगा, मैं उसे क़त्ल कर दूँगा।

अनूपसिंह-

तुम्हारे सामने मैं आऊँगा।

ज़ोरावरसिंह-

और मेरे हाथ में अब भी तलवार है। मैं आपको भी इसी तलवार से........

अनूपसिंह—

जब तेरी मौत ही आ गई है, तो मैं क्या कर सकता हूँ, और तू क्या कर सकता है ?

(अनूपसिंह और ज़ोरावरसिंह तलवारें खींच लेते हैं। सिपाही चुपचाप खड़े हैं। पिता-पुत्र में लड़ाई छिड़ा ही चाहती है कि प्रबला सिपाहियों के वेष में दाख़िल होती है और पिता-पुत्र के बीच में खड़ी हो जाती है।)

प्रबला—

पिता की तलवार पुत्र का लहू पियेगी, और संसार यह तमाशा देखेगा। परन्तु वह अभी बच्चा है और जब तक मैं जीती हूँ, मेरे बच्चे पर कोई हमला नहीं कर सकता।

रायसिंह—

शहर में लोग मरने मारने को तैयार हो गये।

प्रबला—

मरने मारने को तैयार हो गये?

रायसिंह—

सारे सरदार तलवारें लिये मुक़ाबिला करने आ रहे हैं। बताओ, क्या किया जाये?

अनूपसिंह—

कोई चिन्ता नहीं, मैं और मेरी सेना अभी जीती है। सब ठीक हो जायेगा।

रायसिंह—

सेना-पति!

अनूपसिंह—

निश्चिन्त रहो। मैं सबको ठीक कर लूँगा।

रायसिंह—

तो नर-हत्या होगी?

अनूपसिंह—

नर-हत्या की अपेक्षा न्याय-हत्या अधिक भयानक है। मगर मैं रक्त-पात के बिना ही यह आग ठण्डी कर दूँगा। प्रबला! मैं उधर जाता हूँ। इधर का ख़याल रखना तेरा काम है।

(अनूपसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

रायसिंह—

(श्रद्धा-भाव से) माता! मालूम होता है, यह भी तेरा ही काम है। भावी सन्तान तुझे नमस्कार करेगी। तेरा श्रीनाम लेकर भारत-वासियों की जीभ पवित्र हो जायगी। तू धन्य है।

अनूपसिंह—

मेरा हुक्म भी नहीं ?

प्रबला—

आपका हुक्म भी नहीं।

अनूपसिंह—

यह तू क्या कह रही है ? तू मेरी स्त्री है।

प्रबला—

मैं इस समय कुछ भी नहीं हूँ, केवल जैसलमेर की एक बेटी हूँ, और मेरा महाराज, मेरी जाति का सिरमौर क़ैद है। इस समय मैं उसे छुड़ाने आई हूँ।

अनूपसिंह—

और मैं ?

प्रबला—

घर में मेरे स्वामी हैं, परन्तु यहाँ आपमें और अन्य राज-विद्रोहियों में कोई भेद नहीं है।

अनूपसिंह—

तो तुम्हारी धारणा है, मैं विद्रोही हूँ, और मैंने विद्रोह किया है ?

प्रबला—

जरूर किया है। अन्यथा महाराज यहाँ क़ैद न होते, मैं इस वेष में न होती, आपको इन शब्दों से सम्बोधन न करती। आपका बेटा इस मकान के अंदर न जाता।

अनूपसिंह—

प्रबला ! मुझे मालूम है, जब महाराज छूट जायँगे, तो क्या होगा ?

प्रबला—

मैं आपका मतलब नहीं समझी।

अनूपसिंह—

मुझपर अभियोग चलेगा, मुझे दंड दिया जायगा।

प्रबला—

मामूली बात है।

अनूपसिंह—

मेरा अपराध बहुत बड़ा है। शायद मुझे देश-निकाले की सज़ा मिले, शायद फाँसी का दंड मिले।

प्रबला—

(काँपती है, मगर फिर साहस करके) मामूली बात है। राजपूत मौत को खेल समझते हैं।

अनूपसिंह—

तो तू उस समय भी राज-भक्ति के नशे में चूर रहेगी? तुझे मेरा खयाल न आयेगा?

प्रबला—

हर समय का धर्म्म जुदा है। उस समय भी मैं अपना धर्म्म न छोड़ूँगी।

अनूपसिंह—

खुश होगी, मुझे मरते देखकर महाराज की जय-जयकार बुलायेगी। वाह वा सती साध्वी स्त्री! नारी-धर्म्म की महत्ता को तूने खूब समझा है। अपने पति को मरते देखेगी, और सामने खड़ी होकर चुपचाप हँसेगी। यही तेरा धर्म है?

प्रबला—

उस समय मेरा धर्म्म मुझे आग की ज्वाला पर बुला लेगा। मैं... (आँखों में आँसू भरकर) जल मरूँगी।

अनूपसिंह—

सती होगी?

(महाराज मूलराज और ज़ोरावरसिंह बाहर निकलते हैं। सारे सिपाही, रायसिंह और प्रबला नमस्कार करते हैं।)

महाराज—

प्रबला कहाँ है ? उसे हमारे सामने पेश करो। (प्रबला आगे बढ़कर सिर झुकाती है।) तू प्रबला है। तू सच्ची स्त्री है। तू हमारे सामने सिर न झुका, तेरे सामने हम सिर झुकाते हैं। तू नेक है, तू बहादुर है, और सबसे बढ़कर यह कि तू अपने धर्म्म को समझती है। हम तेरे आगे सिर झुकाते हैं। तूने हमें क़ैद से छुड़ाया है। तूने हमारी जान बचाई है।

प्रबला—

महाराज ! आप मेरे राजा हैं। आप मेरे सामने सिर न झुकायें, यह अनुचित है। मैंने कुछ नहीं किया। मैंने केवल अपने धर्म्म का पालन किया है।

महाराज—

केवल धर्म्म का पालन किया है, बेटी ! तूने सब कुछ किया है। धर्म्म में सब कुछ आ जाता है। हम तुझसे बहुत .खुश हैं, हम तुझे मुँह-माँगा इनाम देंगे। माँग क्या माँगती है ? हम तुझे सब कुछ देने को तैयार हैं।

प्रबला—

(राजकुमार को पेश करके) मेरे देश के राजकुमार को आशीर्वाद दीजिए महाराज !

महाराज—

यह गुस्ताख़, .ख़ूनी, हत्यारा है ! हम इसे सज़ा देंगे। तू देवी है, इस नर-पिशाच की सिफ़ारिश न कर। तूने स्त्री होकर अपना धर्म्म नहीं छोड़ा, हम मर्द होकर अपना धर्म्म कैसे छोड़ देंगे ? नहीं ! हम इसे सज़ा देंगे। यह हमारा लड़का है, पर यह अपराधी है। इसने देश का अपराध किया है। हम इसे सज़ा देंगे।

रायसिंह—

मैं हर सज़ा के लिए हाज़िर हूँ। मैं अपराधी हूँ।

महाराज—

तू ठीक कहता है, तू अपराधी है।

प्रबला—

मगर यह अपराधी नहीं है, आपको छुड़ाने के लिए हर समय यत्न करता था। इस की गवाही देनेवाले सैकड़ों और हज़ारों हैं।

महाराज—

और मंत्री का क़त्ल? इसका क्या जवाब है?

प्रबला—

यह सिद्ध कर दिया जायगा कि मंत्री देश और जाति का दुश्मन था, और इतना ही नहीं, वह मनुष्यत्व का कलंक था। उसको क़त्ल करके राजकुमार ने जैसलमेर का उपकार किया है। अगर राजकुमार उसे क़त्ल न करते, तो यह अधर्म होता। राजकुमार ने अधर्म नहीं किया।

महाराज—

अगर यह सिद्ध हो जाये, तो हम राजकुमार को माफ़ कर देंगे। परन्तु बेटी प्रबला! तूने हमपर बड़ा उपकार किया है। अगर तू यत्न न करती, तेरा नन्हा बालक आगे न बढ़ता, तू अपनी जान को ख़तरे में न डाल देती, तो हम वहीं क़ैद में सड़-सड़कर मर जाते, और हमें बाहरी जगत की धूप और प्रकाश दोनों देखने का सुअवसर न मिलता। और हमें हमारी प्रजा भूल जाती, हम तेरे ऋणी हैं।

प्रबला—

आप मेरे महाराज हैं।

महाराज—

निस्सन्देह हम महाराज हैं। और महाराज कभी ऋणी नहीं रहते।

(महाराज मूलराज और ज़ोरावरसिंह बाहर निकलते हैं। सारे सिपाही, रायसिंह और प्रबला नमस्कार करते हैं।)

महाराज—

प्रबला कहाँ है ? उसे हमारे सामने पेश करो। (प्रबला आगे बढ़कर सिर झुकाती है।) तू प्रबला है। तू सच्ची स्त्री है। तू हमारे सामने सिर न झुका, तेरे सामने हम सिर झुकाते हैं। तू नेक है, तू बहादुर है, और सबसे बढ़कर यह कि तू अपने धर्म्म को समझती है। हम तेरे आगे सिर झुकाते हैं। तूने हमें क़ैद से छुड़ाया है। तूने हमारी जान बचाई है।

प्रबला—

महाराज ! आप मेरे राजा हैं। आप मेरे सामने सिर न झुकायें, यह अनुचित है। मैंने कुछ नहीं किया। मैंने केवल अपने धर्म्म का पालन किया है।

महाराज—

केवल धर्म्म का पालन किया है, बेटी ! तूने सब कुछ किया है। धर्म्म में सब कुछ आ जाता है। हम तुझसे बहुत ख़ुश हैं, हम तुझे मुँह-माँगा इनाम देंगे। माँग क्या माँगती है ? हम तुझे सब कुछ देने को तैयार हैं।

प्रबला—

(राजकुमार को पेश करके) मेरे देश के राजकुमार को आशीर्वाद दीजिए महाराज !

महाराज—

यह गुस्ताख़, ख़ूनी, हत्यारा है ! हम इसे सज़ा देंगे। तू देवी है, इस नर-पिशाच की सिफ़ारिश न कर। तूने स्त्री होकर अपना धर्म्म नहीं छोड़ा, हम मर्द होकर अपना धर्म्म कैसे छोड़ देंगे ? नहीं ! हम इसे सज़ा देंगे। यह हमारा लड़का है, पर यह अपराधी है। इसने देश का अपराध किया है। हम इसे सज़ा देंगे।

रायसिंह—

मैं हर सज़ा के लिए हाज़िर हूँ। मैं अपराधी हूँ।

महाराज—

तू ठीक कहता है, तू अपराधी है।

प्रबला—

मगर यह अपराधी नहीं है, आपको छुड़ाने के लिए हर समय यत्न करता था। इस की गवाही देनेवाले सैकड़ों और हज़ारों हैं।

महाराज—

और मंत्री का क़त्ल? इसका क्या जवाब है?

प्रबला—

यह सिद्ध कर दिया जायगा कि मंत्री देश और जाति का दुश्मन था, और इतना ही नहीं, वह मनुष्यत्व का कलंक था। उसको क़त्ल करके राजकुमार ने जैसलमेर का उपकार किया है। अगर राजकुमार उसे क़त्ल न करते, तो यह अधर्म होता। राजकुमार ने अधर्म नहीं किया।

महाराज—

अगर यह सिद्ध हो जाये, तो हम राजकुमार को माफ़ कर देंगे। परन्तु बेटी प्रबला! तूने हमपर बड़ा उपकार किया है। अगर तू यत्न न करती, तेरा नन्हा बालक आगे न बढ़ता, तू अपनी जान को ख़तरे में न डाल देती, तो हम वहीं क़ैद में सड़-सड़कर मर जाते, और हमें बाहरी जगत की धूप और प्रकाश दोनों देखने का सुअवसर न मिलता। और हमें हमारी प्रजा भूल जाती, हम तेरे ऋणी हैं।

प्रबला—

आप मेरे महाराज हैं।

महाराज—

निस्सन्देह हम महाराज हैं। और महाराज कभी ऋणी नहीं रहते।

इसलिए जब तक तेरा ऋण न चुका लेंगे, यहाँ से एक पाँव भी न उठायेंगे। बेटी! मुझसे अपनी कोई इच्छा बयान कर, मैं उसे पूरा कर दूँगा।

(अनूपसिंह और दरबार के सरदार हाजिर होकर सिर झुकाते हैं।)

महाराज—

तू कौन! अनूपसिंह! तू हट जा, हम तेरा सलाम नहीं लेते। हम तुझपर मुक़दमा चलायेंगे। तू विद्रोही है, तूने हमें क़ैद किया था। और हम तेरे महाराज हैं। हम तुझे सज़ा देंगे।

रायसिंह—

मगर यह सारे सरदार शहर की ईंट से ईंट बजा देते, अगर यही सूरमा सीना तानकर इनके सामने न खड़ा ही जाता। इन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लिया है। इसलिए अब इन्हें सज़ा नहीं मिलनी चाहिए।

महाराज—

क्या यह सच है?

सरदार—

(एक स्वर से) बिलकुल सच है।

महाराज—

तो हमने तुम्हें माफ़ किया।

प्रबला—

महाराज की जय हो!

महाराज—

(एकाएक सिर उठाकर) सेनापति!

अनूपसिंह—

(सिर झुकाकर) महाराज आज्ञा करें, मैं पालन करूँगा।

महाराज—

तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं ?

अनूपसिंह—

मेरे सिपाही बाहर मैदान में खड़े श्रीमान्‌जी के दर्शन करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

महाराज—

इनको हुक्म दो, कि इन सब सरदारों को इसी समय गिरिफ्तार कर लें। ये विद्रोही हैं।

अनूपसिंह—

(हाथ बाँधकर) महाराज !—

महाराज—

चुप रहो ! हम कुछ न सुनेंगे। हम इन्हें सज़ा देंगे।

अनूपसिंह—

श्रीमान् !

महाराज—

हमने तुम्हें माफ़ किया है, इन्हें माफ़ नहीं किया। इन्होंने विद्रोह किया था।

अनूपसिंह—

मगर मैं इन्हें कैसे गिरफ्तार कर सकता हूँ। इन्होंने मेरी बात सुनी है, मेरा कहा माना है, और अब—नहीं महाराज ! यह मुझसे नहीं हो सकता, यह मुझसे नहीं होगा। यह असम्भव है।

महाराज—

तुम सच्चे सूरमा हो, तुमको अपने वचन का ख़याल है। तुमको अपने साथियों का ख़याल है। हम तुमसे ख़ुश हैं। मगर इनको सज़ा ज़रूर मिलेगी। बेटी प्रबला !

प्रबला—

महाराज !

महाराज—

तुम सिपाहियों को हमारी ओर से हुक्म दो, कि इन सबको गिरफ्तार कर लें। हम उनको सज़ा देंगे। इससे पहले भी जो काम तुम्हारे पति से नहीं हुआ, वह तुमने किया है। अब भी यह काम उससे नहीं हुआ, तुम करो। तुम वीर हो।

प्रबला—

जो आज्ञा ! (प्रबला बाहर चली जाती है।)

महाराज—

अनूपसिंह !

अनूपसिंह—

महाराज !

महाराज—

इनपर मुक़द्दमा चलेगा, और इन्हें सज़ा मिलेगी। हम जैसलमेर के राजा हैं, हम न्याय करेंगे। हमें न्याय करना होगा।

(सिपाही आकर सरदारों को गिरिफ़्तार कर लेते हैं। महाराज चलने को तैयार होते हैं। प्रबला रास्ता रोक लेती है।)

महाराज—

क्यों बेटी ! क्या बात है ?

प्रबला—

महाराज ! मेरा मुँह-माँगा इनाम ?

महाराज—

ठीक है, हम भूल गये थे। हमें याद न रहा था। माँगो, क्या माँगती हो ? हम देंगे।

प्रबला—

मेरी इच्छा पूरी होगी ?

महाराज—

ज़रूर पूरी होगी।

प्रबला—

मैं जो चाहूँ, माँग सकती हूँ ?

महाराज—

बड़ी ख़ुशी से माँग सकती हो। हम तुझे आज्ञा देते हैं।

प्रबला—

तो मेरी इच्छा यह है, कि इन सब सरदारों को........

महाराज—

(बात काटकर) नहीं, नहीं, यह नहीं होगा। कोई अपनी इच्छा कहो, कोई वस्तु अपने लिए माँगो। मगर इन विद्रोहियों के लिए, देश के इन दुश्मनों के लिए कुछ न कहो। इन्होंने राज्य का अपराध किया है। और राज्य का अपराध सबसे बड़ा अपराध है।

प्रबला—

मेरी इच्छा केवल यह है कि इन सबको क्षमा कर दिया जाय।

महाराज—

बेटी प्रबला !

प्रबला—

मेरी यही इच्छा है महाराज !

महाराज—

यह नहीं हो सकता, और जो चाहो, माँग लो। कहो तो तुम्हारे पति को मंत्री बना दें ?

प्रबला—

नहीं महाराज !

महाराज—

जागीर दे दें ?

प्रबला—

नहीं महाराज !

महाराज—

बेटी प्रबला ! हठ न कर। इसके सिवा और कोई चीज़ माँग ले। सिर्फ़ यह न माँग। हम यह नहीं देना चाहते।

प्रबला—

मैं इसके सिवा और कुछ भी नहीं चाहती महाराज !

महाराज—

वे विद्रोही हैं।

प्रबला—

....पर हारे हुए हैं।

महाराज—

वे हमारे दुश्मन है।

प्रबला—

.........पर अब क्षमा चाहते हैं, अपनी भूल के लिए लज्जित हैं। इसलिए कृपा करके इनको क्षमा कर दिया जाय। देश में शान्ति हो जायगी। दया से बढ़कर दूसरा और कोई दंड नहीं। यह दंड उन्हें सदा के लिए सुधार देगा।

महाराज—

(निरुत्तर होकर) तेरे सामने कौन ठहर सकता है। जा हमने इन्हें भी क्षमा कर दिया। सेनापति ! सबको छोड़ दो।

प्रबला—

महाराज की जय हो। पहले आपने इनके शरीर जीते थे, अब दिल भी जीत लिये हैं। आज आप सच्चे महाराज हैं !

महाराज—

बेटी ! यह सब तेरा ही पुण्य-प्रताप है। आज संध्या के दो घंटों में यह तीसरा काम है, जो तेरे पति से नहीं हुआ, और तुझसे हो गया है। अनूपसिंह ! इस अनमोल हीरे की क़द्र कर, अपने आपको इसके योग्य बना। इसपर जैसलमेर को सदा मान रहेगा। यह जैसलमेर का सबसे बड़ा हीरा है।

(महाराज का, सिपाहियों का, और रायसिंह का चले जाना।)

ज़ोरावरसिंह—

(प्रबला के पास जाकर) अब मेरी एक प्रार्थना है।

प्रबला—

(हँसकर) अब तेरी क्या प्रार्थना है ?

ज़ोरावरसिंह—

आपने महाराज का काम किया, उन्होंने आपको मुँह-माँगा इनाम दिया। मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया, मुझे आपसे क्या इनाम मिला ?

प्रबला—

तुम मुझसे इनाम माँगो, मैं दूँगी।

ज़ोरावरसिंह—

जो माँगूँगा, मिलेगा ?

प्रबला—

ज़रूर मिलेगा।

ज़ोरावरसिंह—

कहो, प्रतिज्ञा की।

प्रबला—

(हँसकर) प्रतिज्ञा की।

अनूपसिंह—

बेटा ! ज़रा सोचकर ! कोई अच्छी सो चीज़ माँगना। इन्हें भी याद रहे कि किसी ने कुछ माँगा था।

प्रबला—

पिता-पुत्र मिलकर मुझे लूट लो।

ज़ोरावरसिंह—

नहीं, मैं इस समय अपनी मा को कभी न भूलूँगा।

प्रबला—

तो माँगो, क्या माँगते हो, मैंने प्रतिज्ञा की, तुम जो माँगोगे, मैं दूँगी। मगर आकाश के तारे न माँग बैठना। मैं आकाश पर न जा सकूँगी, न तारे तोड़कर तुम्हारी झोली भर सकूँगी।

ज़ोरावरसिंह—

बात यह है कि आजकल हमारे घर में एक सिपाही प्रबलसिंह आ घुसा है, और उसने मेरी मा को घर से निकाल दिया है। मेरी इच्छा यह है कि तुम चलकर उसको बाहर निकाल डालो, मेरी मा घर आजायगी। (मा की ओर देखकर मुसकराता है)

अनूपसिंह—

वाह वा ! क्या कहना !! मेरी भी यही इच्छा है, कि मेरे घर में कोई दूसरा सिपाही न रहने पाये।

प्रबला—

डाह होता है क्या आपको ?

अनूपसिंह—

और क्यों न हो ? कौन पुरुष है जो इस रोग से बचा है। मैं भी पुरुष हूँ।

ज़ोरावरसिंह—

(मा से) क्यों जी ! मेरा इनाम मुझे मिलेगा या जाकर महाराज से फ़रियाद करूँ ?

प्रबला—

भई, बात यह है कि मुझसे तेरी यह इच्छा पूर्ण न हो सकेगी। जा, जाकर महाराज से कह, तेरी इच्छा वही पूरी करेंगे।

ज़ोरावरसिंह—

यह बात है, तो लो मैं यह गया।

(अनूपसिंह के सामने जाकर खड़ा हो जाता है।)

अनूपसिंह—

कहो, क्या बात है। हम सुन रहे हैं।

ज़ोरावरसिंह—

महाराज की दुहाई है ! महाराज की दुहाई है।

प्रबला—

परन्तु यह महाराज तो नहीं हैं। वे चले गये।

ज़ोरावरसिंह—

जो चले गये हैं, वह बाहर के महाराज हैं। हमारे घर के महाराज तो यही हैं। मेरी फ़रियाद इन्हीं से है।

अनूपसिंह—

ठीक है। हम न्याय करेंगे।

प्रबला—

वाह वा ! बेटा मुक़द्दमा चलायेगा, पिता फ़ैसला करेगा, अब प्रबलसिंह की मौत आ गई, उसे कौन बचा सकेगा ?

(ईरा का प्रवेश।)